ग्रन्थ का नाम—रयणसार

प्रबन्ध सम्पादक :

ब्र. पं. धर्मचन्द शास्त्री, प्रतिष्ठाचार्य

एवम्

कु. ब्र. प्रभा पाटणी

प्रकाशक—भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत परिषद्

प्रति—1000

प्रथम संस्करण

प्राप्ति स्थान— 1. आचार्य विमलसागरजी संघ

2. अनेकान्त सिद्धांत समिति, लोहारिया
जिला—बांसवाड़ा (राजस्थान)

3. श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, गुलाब वाटिका, दिल्ली।

सम्वत् : २०४९

मूल्य :

मुद्रक—ललित कला प्रिन्टर्स,
लालजी सांड का रास्ता, जयपुर—3 फोन : 76110

* समर्पण *

चारित्र शिरोमणि

सन्मार्ग दिवाकर

करुणा निधि

वात्सल्य मूर्ति

अतिशय योगी

तीर्थोद्धारक चूड़ामणि

अपाय विचय धर्मध्यान के ध्याता

शान्ति-सुधामृत के दानी

वर्तमान में धर्मपतितों के उद्धारक

ज्योति पुञ्ज

पतितों के पालक

तेजस्वी अमर पुञ्ज

कल्याणकर्त्ता. दुखों के हर्ता, समदृष्टा

बीसवीं सदी के अमर सन्त

परम तपस्वी, इस युग के महान साधक

जिन भक्ति के अमर प्रेरणा स्रोत

पुण्य पुञ्ज

गुरुदेव आचार्यवर्य श्री 108

श्री विमलसागर जी महाराज के कर-कमलों में

"ग्रन्थराज"

समर्पित

विमल वन्दना

तुभ्यं नमः परम धर्म प्रभावकाय ।
तुभ्यं नमः परम तीर्थ सुवन्दकाय ।।
स्याद्वाद सूक्ति सरणि प्रतिबोधकाय ।
तुभ्यं नमः विमल सिन्धु गुणार्णवाय ।।
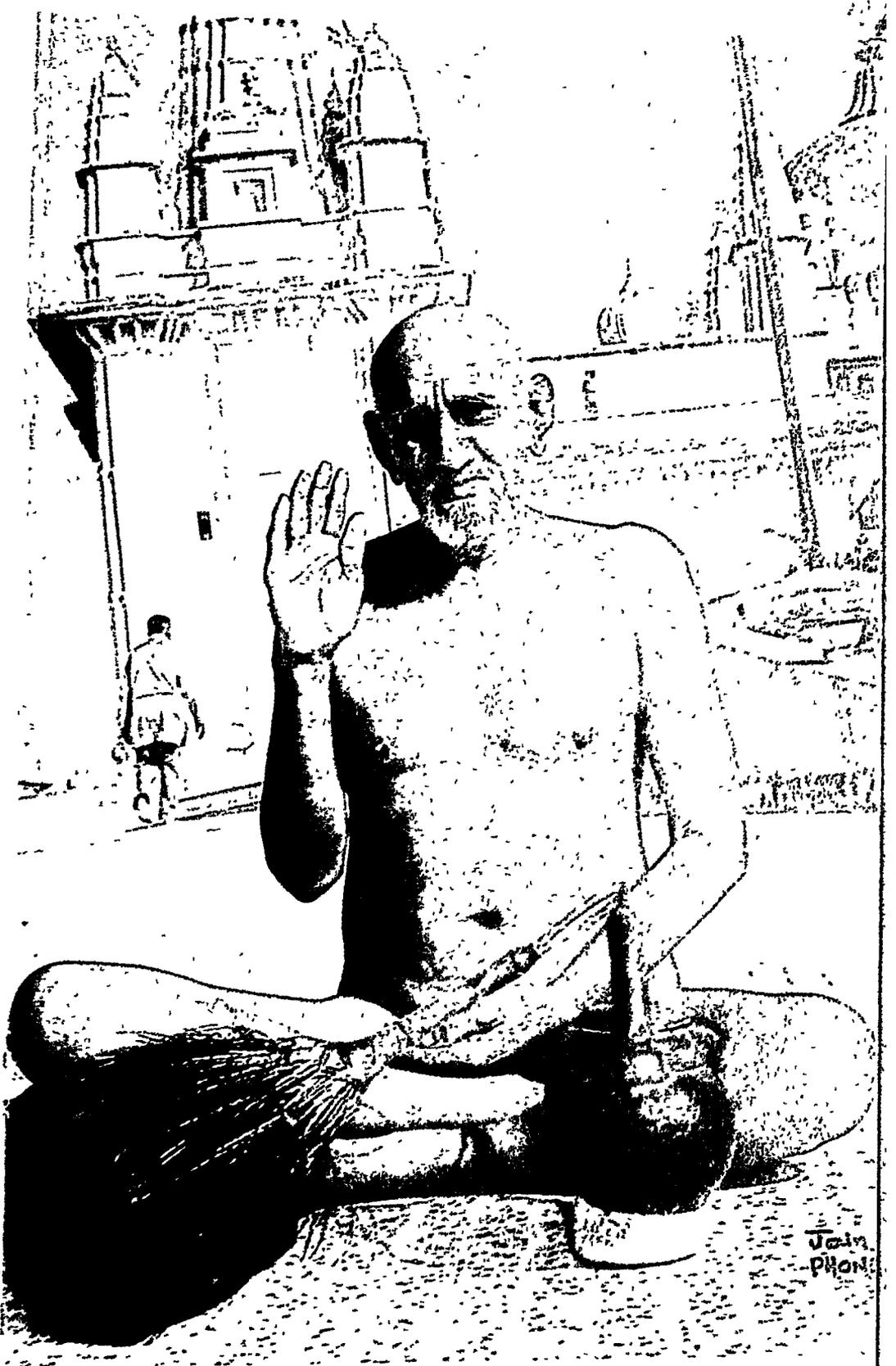
आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज

उपाध्याय श्री भरत सागर जी महाराज

।। आशीर्वाद ।।

उपाध्याय मुनि श्री भरतसागर जी

आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज का हीरक जयन्ती वर्ष हमारे लिए एक स्वर्णिम अवसर लेकर आया है। तीर्थंकरों की वाणी स्याद्‌वाद वाणी का प्रसार सत्य का प्रचार है।

असत्य को उखाड़ना है तो असत्य का नाम भी मुख से न निकालो सत्य स्वयं ही प्रस्फुटित हो सामने आयेगा।

वर्तमान में कुछ वर्षों से जैनागम को धूमिल करने वाला एक श्याम सितारा ऐसा चमक गया कि सत्य पर असत्य की चादर थोपने लगा। वह है एकान्तवाद, निश्चयाभास।

असत्य को अपना रंग चढ़ाने में देर नहीं लगती, यह कटु सत्य है। कारण जीव के मिथ्यासंस्कार अनादिकाल से चले आ रहे हैं। फलतः पिछले ७०–८० वर्षों में एकान्तवाद ने जैन का टीका लगाकर निश्चयनय की आड़ में स्याद्वाद को कलंकित करना चाहा। घर-घर में मिथ्याशास्त्रों का प्रचार किया। आचार्य कुन्दकुन्द की आड़ में अपनी ख्याति चाही और भावार्थ बदल दिये, अर्थ का अनर्थ कर दिया।

बुधजनों ने अपनी क्षमता से मिथ्यात्व से लोहा लिया पर अपनी तरफ से जनता को सत्य साहित्य नहीं दिया। आर्यिका स्याद्वादमति जी ने इस हीरक जयन्ती वर्ष में एक नया निर्णय आचार्य श्री व हमारे सानिध्य में लिया कि 'असत् साहित्य को हटाने के पूर्व, हमारा आगम जन-जन के सामने रखें अनेक योजनाओं में से एक मुख्य योजना सामने आई आचार्य प्रणीत ७५ ग्रन्थों का प्रकाशन हो। जिनागम का भरपूर प्रकाशन हो सूर्य का प्रकाश जहां होगा श्याम सितारा वहां क्या करेगा। सत्य का मुण्डन करते जाइए असत्य का खण्डन स्वयं होगा। असत्य को निकालने के पूर्व सत्य को थोपना आवश्यक है।

ग्रन्थों के प्रकाशनार्थ जिन भव्यात्माओं ने अपनी स्वीकृतियां दी है, परोक्ष प्रत्यक्ष रूप से सहायता दी है सबको हमारा आशीर्वाद है।

卐 संकल्प 卐

"णाणं पयासं सम्यग्ज्ञान का प्रचार-प्रसार केवल ज्ञान का बीज है। आज कलियुग में ज्ञान प्राप्ति की तो होड़ लगी है, पद्वियां और उपाधियां जीवन का सर्वस्व बन चुकी हैं परन्तु सम्यग्ज्ञान की ओर मनुष्यों का लक्ष्य ही नहीं है।

जीवन में मात्र ज्ञान नहीं सम्यग्ज्ञान अपेक्षित है। आज तथाकथित अनेक विद्वान् अपनी मनगढ़न्त बातों की पुष्टि पूर्वाचार्यो की मोहर लगाकर कर रहे हैं, ऊटपटांग लेखनियां सत्य की श्रेणी में स्थापित की जा रही है कारण पूर्वाचार्य प्रणीत ग्रन्थ आज सहज सुलभ नहीं है और उनके प्रकाशन व पठन-पाठन की जैसी और जितनी रुचि अपेक्षित है, वैसी और उतनी दिखाई नहीं देती।

असत्य को हटाने के लिए पर्चेबाजी करने या विशाल सभाओं में प्रस्ताव पारित करने मात्र से कार्य सिद्ध होना अशक्य है। सत्साहित्य का प्रचुर प्रकाशन व पठन-पाठन प्रारम्भ होगा, असत् का पलायन होगा। अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए आज सत्साहित्य के प्रचुर प्रकाशन की महत्ती आवश्यकता है :—

यनैते विढलन्ति वादिगिरयस्तुष्यन्ति वागीश्वरा:

भव्या येन विदन्ति निवृतिपद मुञ्चंति मोहं वुधाः।

यद् वन्धुर्यमिनां यदक्षयसुखस्याधार भूतं मतं,

तल्लोकजयशुद्धिदं जिनवचः पुष्पाद विवेकश्रियम्॥

सन् १९८४ से मेरे मस्तिष्क में यह योजना वन रही थी परन्तु तथ्य यह है कि "संकल्प के बिना सिद्धि नहीं मिलती।" सन्मार्ग दिवाकर आचार्य १०८ श्री विमलसागर जी महाराज की हीरक जयन्ती के मांगलिक अवसर पर मां जिनवाणी की सेवा का यह सङ्कल्प मैने प. पूज्य गुरुदेव आचार्य श्री व उपाध्याय श्री के चरण सान्निध्य में लिया। आचार्य श्री व उपाध्याय श्री का मुझे भरपूर आशीर्वाद प्राप्त हुआ। फलतः इस कार्य में काफी हद तक सफलता मिली है।

इस महान् का में विशेष सहयोगी यें पं. धर्मचन्द जी व प्रभाजी पाटनी रहे। इन्हें व प्रत्यक्ष-परोक्ष में कार्यरत सभी कार्यकर्त्ताओं के लिए मेरा पूज्य गुरुदेव के पावन चरण कमलों में सिद्ध-श्रुत आचार्य भक्ति पूर्वक नमोस्तु-नमोस्तु-नमोस्तु।

सोनागिर, ११-७-९०

—आर्यिका स्याद्वादमति

आभार

सम्प्रत्यस्ति न केवली किल कलौ त्रैयोक्यचूड़ामणि ।
स्तद्वाच: परमासतेऽत्र भरतक्षेत्रे जगद्घोतिका ।।
सदरत्नत्रयधारिणो यतिवरांस्तेषा समालम्वनं ।
तत्पूजा जिनवाचिपूजनमत: सत्राज्जिन: पूजित: ।।

वर्तमान में इस कलिकाल में तीन लोक के पूज्य केवली भगवान इस भरत क्षेत्र में साक्षात् नहीं हैं तथापि समस्त भरत क्षेत्र में जगतप्रकाशिनी केवली भगवान की वाणी मौजूद है तथा उस वाणी के आधार स्तम्भ श्रेष्ठ रत्नत्रयधारी मुनि भी हैं। इसलिये उन मुनियों की सरस्वती की पूजन है तथा सरस्वती की पूजन साक्षात् केवली भगवान की पूजन है।

आर्ष परम्परा की रक्षा करते हुए आगम पथ पर चलना भव्यात्माओं का कर्त्तव्य है। तीर्थंकर के द्वारा प्रत्यक्ष देखी गई, दिव्यध्वनि में प्रस्फुटित तथा गणधर द्वारा गूंथित वह महान् आचार्यो द्वारा प्रसारित जिनवाणी की रक्षा प्रचार-प्रसार मार्ग प्रभावना नाम एक भावना तथा प्रभावना नामक सम्यग्दर्शन का अंग है।

युगप्रमुख आचार्य श्री के हीरक जयन्ती वर्ष के उपलक्ष्य में हमें जिनवाणी के प्रसार के लिए एक अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ। वर्तमान युग में आचार्य श्री ने समाज व देश के लिए अपना जो त्याग और दया का अनुदान दिया है वह भारत के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। ग्रन्थ प्रकाशनार्थ हमारे सानिध्य या नेतृत्व प्रदाता पूज्य उपाध्याय श्री भरतसागरजी महाराज व निर्देशिका तथा जिन्होंने परिश्रम द्वारा ग्रन्थों की खोजकर विशेष सहयोग दिया ऐसी पूज्या आ. स्य द्वादमती माताजी के लिए मैं सत-सत नमोस्तु-वन्दामि अर्पण करती हूं। साथ ही त्यागी वर्ग, जिन्होंने उचित निर्देशन दिया उनको शत-शत नमन करती हूं। तथा ग्रन्थ के सम्पादक महोदय, श्रीमान् ब्र. पं. धर्मचन्दजी शास्त्री प्रतिष्ठाचार्य, तथा ग्रन्थ प्रकाशनार्थ अनुमति प्रदाता ग्रन्थमाला एवं ग्रन्थ प्रकाशनार्थ अमूल्य निधि का सहयोग देने वाले द्रव्यदाता का मैं आभारी हूं तथा यथासमय शुद्ध ग्रन्थ प्रकाशित करने वाले आदि का मैं आभारी हूं। अन्त में प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से सभी सहयोगियों के लिए कृतज्ञता व्यक्त करते सत्य जिन शासन की जिनागम की भविष्य में इसी प्रकार रक्षा करते रहें ऐसी भावना करती हूं।

कु० प्रभा पाटनी संघस्थ

प्रकाशकीय

इस परमाणु युग में मानव के अस्तित्व को ही नहीं अपितु प्राणी मात्र के अस्तित्व की सुरक्षा की समस्या का निदान "अहिंसा" अमोघअस्त्र से किया जा सकता है। अहिंसा जैनधर्म–संस्कृति की मूल आत्मा है। यही जिनवाणी का सार भी है।

तीर्थंकरों के मुख से निकली वाणी को गणधरों ने ग्रहण किया और आचार्यों ने निबद्ध किया, जो आज हमें जिनवाणी के रूप में प्राप्त है। इस जिनवाणी का प्रचार-प्रसार इस युग में अत्यन्त उपयोगी है। यही कारण हैं कि हमारे आराध्य पूज्य आचार्य, उपाध्याय एवं साधुगण निरन्तर जिन-वाणी के स्वाध्याय और प्रचार-प्रसार में लगे हुए हैं।

उन्हीं पूज्य आचार्यों में से एक है सन्मार्ग दिवाकर. चारित्र-चूड़ामणि परम–पूज्य आचार्यवर्य विमलसागरजी महाराज। जिनकी अमृतमयी वाणी प्राणी मात्र के लिए कल्याणकारी है। आचार्यवर्य की हमेशा भावना रहती है कि आज के समय में प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत ग्रन्थों का प्रका-शन हो और मन्दिरों में स्वाध्याय हेतु रखे जायें जिसे प्रत्येक श्रावक पढ़कर मोह रूपी अन्धकार को नष्ट कर ज्ञानज्योति जला सके।

जैनधर्म की प्रभावना जिनवाणी का प्रचार-प्रसार सम्पूर्ण विश्व में हो, आर्ष परम्परा की रक्षा हो एवं अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर का शासन निरन्तर अबाधगति से चलता रहे। उक्त भावनाओं को ध्यान में रखकर परम-पूज्य, ज्ञान-दिवाकर, वाणी-भूषण, उपाध्यायरत्न भरतसागर जी महाराज एवं आर्यिकारत्न स्याद्वादमती माताजी की प्रेरणा व निर्देशन में परम–पूज्य आचार्य विमलसागरजी महाराज की ७५वीं जन्म जयन्ति हीरक जयन्ति वर्ष के रूप में मनाने का संकल्प समाज के सम्मुख भारत-वर्षीय अनेकान्त विद्वत परिषद् ने लिया। इस हीरक जयन्ति वर्ष में निम्न-लिखित प्रमुख योजनायें क्रियान्वित करने का निश्चय किया, तद्नुरूप ग्रन्थों का प्रकाशन किया जा रहा हैं।

७५ ग्रन्थों के प्रकाशन की योजना के साथ ही साथ भारत के विभिन्न नगरों में ७५ धार्मिक शिक्षण शिविरों का आयोजन किया जा रहा हैं और ७५ पाठशालाओं की स्थापना भी की जा रही हैं। इस ज्ञान यज्ञ में पूर्ण सहयोग करने वाले ७५ विद्वानों का सम्मान एवं ७५ युवा विद्वानों को प्रवचन हेतु तैयार करना तथा ७७७५ युवा वर्ग से सप्तव्यसन का त्याग कराना आदि योजनायें इस हीरक जयन्ती वर्ष में पूर्ण की जा रही हैं।

सम्प्रति आचार्यवर्य पूज्य विमलसागरजी महाराज के प्रति देश एवं समाज अत्यन्त कृतज्ञता ज्ञापन करता हुआ उनके चरणों में शत-शत नमोऽस्तु करके दीर्घायु की कामना करता हैं। ग्रन्थों के प्रकाशन में जिनका अमूल्य निर्देशन एवं मार्गदर्शन मिला हैं वे पूज्य उपाध्याय भरतसागरजी महाराज एवं माता स्याद्वादमीतजी हैं। उनके लिए मेरा क्रमश: नमोऽस्तु एवं वन्दामि अर्पण हैं।

उन विद्वानों का आभारी हूं जिन्होंने ग्रन्थों के प्रकाशन में अनुवादक/सम्पादक एवं संशोधक के रूप में सहयोग दिया हैं। ग्रन्थों के प्रकाशन में जिन दाताओं ने अर्थ का सहयोग करके अपनी चञ्चला लक्ष्मी का सदुपयोग करके पुण्यार्जन किया उनको धन्यवाद ज्ञापित करता हूं। ग्रन्थ विभिन्न प्रेसों में प्रकाशित हुए एददर्थ उन प्रेस संचालकों को जिन्होंने बड़ी तत्परता से प्रकाशन का कार्य किया। अन्त में उन सभी सहयोगियों का आभारी हूं। जिन्होंने प्रत्यक्ष-परोक्ष में सहयोग प्रदान किया हैं।

ब्र० पं० धर्मचन्द शास्त्री
अध्यक्ष
भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत परिषद्

रयणसार

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य विरचित

णमिऊण वड्ढमाणं परमप्पाणं जिणं तिसुद्धेण ।
वोच्छामि रयणसारं सायारणयार धम्मीणं ॥१॥

अन्वयार्थ—(परमप्पाणं) परमात्मा (वड्ढमाणं) वर्द्धमान (जिणं) जिन को (तिसुद्धेण) मन-वचन, काय की शुद्धि से (णमिऊण) नमस्कार कर (सायारणयार) गृहस्थ और मुनि (धम्मीणं) धर्मयुक्त (रयणसारं) रत्नसार [ग्रन्थ] को (वोच्छामि) कहूंगा ।

अर्थ—मैं (कुन्दकुन्द) परमात्मा (तीर्थंकर) वर्द्धमान जिन को मन-वचन और काय की शुद्धि पूर्वक नमस्कार कर गृहस्थ और मुनि धर्म से युक्त रत्नसार (रयणसार) ग्रन्थ को कहूंगा ।

पुव्वं जिणेहि भणियं, जहट्ठियं गणहरेहि वित्थरियं ।
पुव्वाइरियक्कमजं, तं बोल्लइ जो हु सद्दिट्ठी ॥२॥

अन्वयार्थ—(जो) जो (पुव्वं) पूर्वकाल में (जिणेहि) जिन देव के द्वारा (भणियं) कहे हुए (गणहरेहि) गणधरों के द्वारा (वित्थरियं) विस्तृत किये गए-विस्तार रूप से बताये-और जो (पुव्वाइरियक्कमजं) पूर्वाचार्यों के क्रम से-परम्परा से प्राप्त (जहट्ठियं) ज्यों का त्यों (तं) उसी [सत्य] को (बोल्लइ) बोलता है-कहता है (हु) निश्चय से [वह] (सद्दिट्ठी) सम्यग्दृष्टि है ।

अर्थ—जो पूर्वकाल में जिनवर कथित, गणधरों के द्वारा विस्तृत, पूर्वाचार्यों के क्रम से प्राप्त वचनों को जैसा है वैसा (सत्य) कहता है वह निश्चय से सम्यग्दृष्टि है ।

मदिसुदणाणबलेण दु सच्छंदं बोल्लई जिणुत्तमिदि ।
जो सो होइ कुदिट्ठी ण होइ जिणमग्गलग्गरम्रो ।।३।।

अन्वयार्थ— जो) जो (इदि) इस प्रकार (जिणुत्तम्) जिनेन्द्र कथित [तत्व] को (मदिसुदणाणबलेण दु) मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के बल से (सच्छंदं) स्वच्छन्द-स्वेच्छानुसार (बोल्लई) बोलता है (सो) वह (कुदिट्ठी) मिथ्यादृष्टि (होइ) होता है (जिणमग्गलग्गरम्रो) जिन मार्ग में संलग्न प्रवचनकार (ण) नहीं (होइ) होता है ।

अर्थ—जो (व्यक्ति) इस प्रकार जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित अर्थ को स्वच्छन्द (आगम के अर्थ को छिपाकर असत्यार्थ) कहता है वह मिथ्यादृष्टि है। वह जिन मार्ग से पराङ्मुख है, मिथ्यादृष्टि है ।

सम्मत्तरयणसारं, मोक्खमहारुक्खमूलमिदि भणियं ।
तं जाणिज्जइ णिच्छयववहारसरुवदो भेदं ।।४।।

अन्वयार्थ—(मोक्खमहारुक्खमूलं) मोक्षरूपी महान् वृक्ष का मूल (सम्मत्तरयणसारं) सम्यक्त्व रत्न ही सारभूत है। (इदि) ऐसा (भणियं) कहा गया है (तं) वह (णिच्छयववहारसरुवदो) निश्चय और व्यवहार स्वरूप से (भेदं) दो भेद वाला (जाणिज्जइ) जाना जाता है ।

अर्थ—मोक्षरूपी महावृक्ष का मूल सम्यक्त्व रत्न ही सारभूत है ऐसा कहा गया है और वह सम्यक्त्व निश्चय सम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्दर्शन अपेक्षा दो भेद वाला जाना जाता हैं ।

भय विसणमलविवज्जिय संसारसरीर भोगणिव्विणो ।
अट्ठगुणंगसमग्गो दसणसुद्धो हु पंचगुरुभत्तो ।।५।।

अन्वयार्थ—(भय) भय (विसण) व्यसन, (मल) मल दोष (विवज्जिय) रहित (संसार) संसार (सरीर) शरीर (भोग) भोग (णिव्विणो) विरक्त

(अट्टगुणंग) आठ गुणों से (समग्गो) युक्त (पंचगुरुभत्तो) पञ्च परमेष्ठी का भक्त (हु) निश्चय ही (दंसणसुद्धो) निर्दोष सम्यग्दर्शन का धारक [सम्यग्दष्टी] होता है।

अर्थ—सात भय, सात व्यसन और पच्चीस मल दोषों से रहित संसार शरीर भोगों से विरक्त, (निःशंकितादि) आठ गुणों से युक्त पंच परमेष्ठी का भक्त निश्चय ही निर्दोष सम्यग्दृष्टि होता है।

सात भय—(१) इहलोक भय (२) परलोक भय (३) वेदना भय (४) मरण भय (५) आकस्मिक भय (६) अरक्षा भय (७) अगुप्ति भय।

सात व्यसन—(१) जुआ खेलना (२) मांस खाना (३) सुरा पान (४) शिकार करना (५) वेश्या गमन (६) चोरी करना (७) पर स्त्री सेवन।

पच्चीस मल दोष—८ शंकादि दोष, ८ मद ६ अनायतन और ३ मूढ़ता।

८ शंकादि दोष—(१) शंका (२) कांक्षा (३) विचिकित्सा (४) मूढ़ दृष्टि (५) अनुपगूहन (६) अस्थितिकरण (७) अवात्सल्य (८) अप्रभावना।

आठ मद—(१) ज्ञान मद (२) पूजा (आज्ञा या प्रतिष्ठा) का मद (३) कुल मद (४) जाति मद (५) बल (शक्ति) मद (६) ऋद्धि, (विभूति, संयत, ऐश्वर्य आदि) मद (७) तप मद (८) शरीर (रूप) मद।

छः अनायतन—कुगुरु कुदेव, कुधर्म और तीनों के सेवक।

३ मूढ़ता—(१) देव मूढ़ता (२) गुरु मूढ़ता (३) लोक मूढ़ता।

आठ गुण—(१) निशंकित (२) निकांक्षित (३) निर्विचिकित्सा (४) अमूढ दृष्टि (५) उपगूहन (६) स्थिति करण (७) वात्सल्य (८) प्रभावना।

पंच परमेष्ठी—(१) अरहंत (२) सिद्ध (३) आचार्य (४) उपाध्याय (५) साधु

णियसुद्धप्पणुरत्तो वहिरप्पावत्थवज्जिओ णाणी।
जिणमुणिधम्मं मण्णइ गयदुक्खो होइ सद्दिट्ठी ॥६॥

आचार्य कुन्दकुन्द

अन्वयार्थ-(णियसुद्धप्पणुरत्तो) निज शुद्धात्मा में अनुरक्त (वहिरप्पा-वत्थ) वहिरात्मा की अवस्था से (वज्जिओ) रहित (णाणी) आत्मज्ञानी (जिण) जिनेन्द्र देव (मुणि) मुनि और (धम्मं) धर्म को (मण्णइ) मानता है- ऐसा (सद्दिट्ठी) सम्यग्दृष्टि (गयदुक्खो) दु:खों से रहित (होइ) होता हैं।

अर्थ-निज शुद्धात्मा में अनुरक्त वहिरात्मा की अवस्था से रहित जो विचार-शील ज्ञानी श्री जिनेन्द्र देव, निर्ग्रन्थ गुरु तथा जिन धर्म को मानता है वह सम्यग्दृष्टि सर्व दु:खों से रहित होता है।

मयमूढमणायदणं संकाइवसण भयमईयारं।
जेसिं चउदालेदो ण संति ते होंति सद्दिट्ठी ॥७॥

अन्वयार्थ-(जेसिं) जिनके (मय) मद (मूढं) मूढता (अणायदणं) अना-यतन (संकादि) शंकादि दोष (वसण) व्यसन (भयं) भय (अईयार) अती-चार (चउदालेदो) चवालीस [दोष] (ण) नहीं (संति) होते है (ते) वे (सद्दिट्ठी) सम्यग्दृष्टि (होंती) होते हैं।

अर्थ-जिनमें आठ मद, तीन मूढता, छ: अनायतन, आठ शंकादि दोष, सात व्यसन, सात भय, पांच अतिचार, ये चवालीस दोष नहीं होते हैं वे सम्यग्दृष्टि होते हैं।

पांच अतिचार-(१) शंका (२) कांक्षा (३) विचिकित्सा (४) अन्यदृष्टि प्रशंसा (५) अन्य दृष्टि संस्तव।

उहयगुणवसणभय मलवेरग्गाइचार भत्तिविग्घं वा।
एदे सत्तत्तरिया दंसणसावयगुणा भणिया ॥८॥

अन्वयार्थ-(उहयगुण) मूल गुण और उत्तर गुण-आठ मूलगुण और वारह उत्तर गुण (वसण) व्यसन (भय) भय (मल) मलदोष [इनका त्याग) (वेरग्ग) वारह भावना का चिन्तन (अइचार) सम्यग्दर्शन के पांच अति-चार (का परित्याग) (वा) और (भत्तिविग्घं) [देव शास्त्र गुरु में] निर्विघ्न

भक्ति ये (एदे) ये (सत्तत्तरिया) सतत्तर (दंसवसावयगुणा) सम्यग्दृष्टि श्रावक के गुण (भणिया) कहे गये हैं।

अर्थ—आठ मूल गुण, वारह उत्तर गुणों का प्रतिपालन, सात व्यसन सात भय और पच्चीस मल दोषों का परित्याग, वारह भावनाओं का चिन्तन, सम्यग्दर्शन के पांच अतिचारों का परित्याग, देव शास्त्र गुरु में निर्विघ्न भक्ति ये सम्यग्दृष्टि श्रावक के सतत्तर गुण कहे गये है।

आठ मूल गुण—(अ) मद्य (शराव) त्याग (२) मांस त्याग (३) मधु (शहद) त्याग (४) वड़ (५) पीपल (६) पाकर (७) ऊमर गुलर (८) कटूम्बर (अंजीर) फलों का त्याग।

(व) पांच अणुव्रत व मद्य मांस, मधु (तीनमक्कार) का त्याग।

(स) (१) मद्य त्याग (२) मांस त्याग (३) मधु त्याग (४) रात्रि भोजन त्याग (५) पांच उदम्वर फूलों का त्याग (६) पंच परमेष्ठी को नमस्कार (७) जीव दया (८) जल छानना।

वारह उत्तर गुण—५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रत।

५ अणुव्रत—(१) अहिंसाणुव्रत (२) सत्याणुव्रत (३) अचौर्याणुव्रत (४) ब्रह्मचर्याणुव्रत (५) परिग्रहपरिमाण अणुव्रत।

३ गुणव्रत—(१) दिग्व्रत (२) अनर्थदण्डव्रत (३) भोगोपभोग परिमाण।

४ शिक्षा व्रत—(१) देश व्रत (२) सामायिक (३) प्रोपधोपवास (४) अतिथि संविभाग।

वारह भावना—(१) अनित्य (२) अशरण (३) संसार (४) एकत्व (५) अन्यत्व (६) अशुचि (७) आस्रव (८) संवर (९) निर्जरा (१०) लोक (११) धर्म (१२) वोधि दुर्लभ।

सम्यग्दर्शन के ५ अतिचार—(१) शंका (२) कांक्षा (३) विचिकित्सा (४) अन्य दृष्टि प्रशंसा (५) अन्य दृष्टि संस्तव।

देवगुरु समयभत्ता संसार सरीर भोगपरिचित्ता।
रयणत्तयसंजुत्ता ते मणुवा सिवसुहं पत्ता ॥६॥

अन्वयार्थ-जो (देव) देव [जिनेन्द्र] (गुरु) निर्ग्रन्थ गुरु (समय) शास्त्र (भत्ता) के भक्त होते हैं (संसार) संसार (सरीर) शरीर (भोग) भोग के (परिचित्ता) परित्यागी होते हैं (रयणत्तय) रत्नत्रय से (संजुत्ता) संयुक्त होते हैं (ते) वे (मणुवा) मनुष्य (सिवसुहं) मोक्ष सुख को (पत्ता) प्राप्त करते हैं।

अर्थ-जो देव (जिनेन्द) गुरु (निर्ग्रन्थ) और जिनेन्द्र देव द्वारा कथित जिनागम के भक्त होते हैं, संसार, शरीर और भोगों से विरक्त रहते हैं तथा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्चारित्र रूप रत्नत्रय सहित है ऐसे मनुष्य मुक्ति सुख को प्राप्त करते है।

दाणं पूजा सीलं उववास बहुविहं पि खवणं पि।
सम्मजुदं मोक्खसुहं सम्मविणा दीहसंसारं ॥१०॥

अन्वयार्थ-(सम्मजुदं) सम्यग्दर्शन सहित (दाणं) दान (पूजा) पूजा (सीलं) शील (बहुविहं पि) अनेक प्रकार के (उववासं) उववास (खवणं पि) कर्मक्षय के कारणभूत व्रत आदि (मोक्खसुहं) मोक्ष सुख के कारण हैं (और) (सम्मविणा) सम्यग्दर्शन के विना [ये ही] (दीह संसार) दीर्घ संसार के कारण हैं।

अर्थ-सम्यग्दर्शन सहित दान, पूजा, ब्रह्मचर्य उपवास अनेक प्रकार के व्रत (और संयमादि मुनिलिंग धारण) आदि सर्व मोक्ष मार्ग के कारणभूत हैं और सम्यग्दर्शन के विना जप-तप-दान पूजा आदि सर्व संसार को बढ़ाने वाले ही हैं।

दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मे, ण सावया तेण विणा।
झाणाज्झयणं मुक्खं जइधम्मं तं विणा तहा सो वि ॥११॥

अन्वयार्थ-(सावयधम्मे) श्रावक धर्म में (दाणं) दान (पूजा) पूजा (मुक्खं) [श्रावक का] मुख्य कर्त्तव्य है। (तेण) उसके (विणा) बिना (सावया) श्रावक (ण) नहीं होता है (झाणाज्झयणं) ध्यान और अध्ययन (जइधम्मं) यतियों का धर्म (मुक्खं) मुख्य हैं (तं) उसके (विणा) विना (सो वि) वह भी (तहा) वैसा ही [व्यर्थ] है।

अर्थ—श्रावक धर्म में चार प्रकार का दान और देव शास्त्र गुरु की पूजा करना मुख्य कर्तव्य है। उसके बिना वह गृहस्थ श्रावक नहीं होता। मुनि धर्म में ध्यान और अध्ययन मुख्य कर्तव्य हैं। उस ध्यान अध्ययन के बिना मुनि धर्म भी वैसा ही है।

दाणु ण धम्मु ण चागु ण भोगु ण बहिरप्प जो पयंगो सो।
लोहकसायग्गिमुहे पडियो मरियो ण संदेहो ॥१२॥

अन्वयार्थ—(जो) जो (दाणु) दान (ण) नहीं देता (धम्मु) धर्म (ण) नहीं पालता है (चागु ण) त्याग नहीं करता (भोगु) नीति पूर्वक भोग (ण) नहीं करता (बहिरप्प) बहिरात्मा है (सो) वह (पयंगो) पतंग के समान (लोहकसायग्गिमुहे) लोभ कषाय रूपी अग्नि के मुख में (पडिदो) पड़कर (मरिदो मरता है [इसमें] (संदेहो) संदेह (ण) नहीं है।

अर्थ—जो श्रावक सुपात्र में दान नहीं देता है, अष्टमूल गुण, व्रत, संयम, पूजा आदि अपने धर्म का पालन नहीं करता है और न भोग ही नीतिपूर्वक भोगता है पापों का यथा शक्ति त्याग नहीं करता है वह बहिरात्मा है (मिथ्यादृष्टि है) [जैन धर्म धारण करके भी जैन धर्म से बहिर्भूत है] वह लोभ कषाय रूपी अग्नि में पतंग के समान पड़कर मरता है इसमें संदेह नहीं है।

जिणपूजा मुणिदाणं करेइ जो देइ सत्तिरूवेण।
सम्माइट्ठी सावय धम्मी सो होइ मोक्खमग्गरओ ॥१३॥

अन्वयार्थ—(जो) जो (सत्तिरूवेण) शक्ति अनुसार (जिणपूजां) जिनवर [देव-शास्त्र-गुरु] की पूजा (करेइ) करता है (सत्तिरूवेण) शक्ति अनुसार (मुणिदाणं) मुनियों को दान (देइ) देता है। (सो) वह (सम्माइट्ठी) सम्यग्दृष्टि (धम्मी) धर्मात्मा (सावय) श्रावक (मोक्खमग्गरओ) मोक्षमार्ग में रत (होइ) होता है।

अर्थ—जो प्रतिदिन अपनी शक्ति अनुसार जिनवर [देव-शास्त्र-गुरु] की पूजा करता है सुपात्रों को [मुनि आर्यिका श्रावक-श्राविका] चार प्रकार का दान देता है

वह सम्यग्दृष्टि श्रावक है। जो अपने धर्म (पूजा और दान) का पालन करता है वह धर्मात्मा श्रावक मोक्षमार्गरत है।

पूयफलेण तिलोए सुरपुज्जो हवइ सुद्धमणो।
दाणफलेण तिलोए सारसुहं भुंजदे णियदं ॥१४॥

अन्वयार्थ–(**सुद्धमणो**) शुद्ध मन वाला [श्रावक] (**पूयफलेण**) पूजा के फल से (**तिलोए**) तीनों लोको में (**सुरपुज्जो**) देवों से पूज्य (**हवइ**) होता है। [और] (**दाणफलेण**) दान के फल से (**तिलोएसारसुहंणियदं**)) तीनों लोकों में निश्चित रूप से (**सारसुहं**) सारभूत सुख को (**भुंजदें**) भोगता है।

अर्थ–जो शुद्ध भाव से श्रद्धापूर्वक पूजा करता है वह पूजा के फल से त्रिलोक का अधीश हो इन्द्रों से पूजित होता है और सुपात्रों में चार प्रकार के दान के फल से त्रिलोक में सारभूत मोक्ष-सुखों को भोगता है।

दाणं भोयणमेत्तं दिण्णइ धण्णो हवेइ सायारो।
पत्तापत्तविसेसं सदंसणे किं वियारेण ॥१५॥

अन्वयार्थ–(**सायारो**) श्रावक (**भोयणमेत्तं**) भोजन मात्र (**दाणं**) दान (**दिण्णइ**) देता है [तो वह] (**धण्णो**) धन्य (**हवेइ**) हो जाता है (**सदंसणे**) साक्षातकार होने पर [जिनलिंग को देखकर] (**पत्तापत्तविसेसं**) पात्र-अपात्र विशेष के (**वियारेण**) विचार या विकल्प करने से (**किं**) क्या लाभ है?

अर्थ–यदि श्रावक [मुनि को] भोजन मात्र दान देता है तो वह धन्य हो जाता है। [फिर] जिनलिङ्ग देखकर पात्र-अपात्र विशेष की परीक्षा करने से क्या लाभ है?

दिण्णेइ सुपत्तदाणं विसेसतो होइ भोगसग्गमही।
णिव्वाणसुहं कमसो, णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं॥ १६॥

अन्वयार्थ–(**सुपत्तदाणं**) सुपात्र को दान (**दिण्णेइ**) देने से (**विसेसतो**) विशेष रूप से (**भोगमही**) भोगभूमि (**सग्गमहि**) स्वर्ग को (**होइ**) प्राप्त होता

है (कमसो) क्रम से (णिव्वाण) निर्वाण (सुहं) सुख को (होइ) प्राप्त होता है (जिणवरिंदेहिं) जिनेन्द्र देव ने ऐसा (णिद्दिट्ठं) कहा है।

अर्थ—सुपात्र को दान देने से विशेष रूप से भोगभूमि और स्वर्ग को प्राप्त होता है तथा क्रम से निर्वाण सुख को प्राप्त होता है ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

खेत्त विसस काले वविय सुवीयं फलं जहा विउलं।
होइ तहा तं जाणइ पत्तविसेसेसु दाणफलं ॥१७॥

अन्वयार्थ—(जहा) जैसे (खेत्त) उत्तम क्षेत्र में (विसेसकाले) योग्य काल में (वविय) बोया हुआ (सुवीयं) उत्तम बीज (विउलं) विपुल (फलं) फलवाला (होइ) होता है (तहा) उसी प्रकार (पत्तविसेसेसु) पात्र विशेषों में यानि उत्तम पात्रों में दिये (तं) उस (दाणफलं) दान के फल को (जाणइ) जानो।

अर्थ—जैसे उत्तम खेत में अच्छे बीज को बोता है तो उसका फल मनवांछित पूर्ण रूप से प्राप्त होता है उसी प्रकार उत्तम पात्र में विधिवत् दान देने से सर्वोत्कृष्ट सुख की प्राप्ति होती है।

इह णियसुवित्तवीयं जो ववइ जिणुत्तसत्तखेत्तेसु।
सो तिहुवणरज्जफलं भुंजदि कल्लाणपंचफलं ॥१८॥

अन्वयार्थ—(इह) इस लोक में (जो) जो पुरुष (जिणुत्त) जिनेन्द्र द्वारा कथित (सत्तखेत्तेसु) सात क्षेत्रों (णिय) अपने (सुवित्त) नीतिपूर्वक उपार्जित श्रेष्ठ धन (वीयं) [धनरूपी] बीज को (ववइ) बोता है (सो) वह (तिहुवणरज्जफलं) त्रिभुवन के राज्य रूपी फल को [और] (कल्लाणपंचफलं) पंचकल्याण रूप फल को (भुंजदि) भोगता है।

अर्थ—जो भव्यआत्मा अपने नीतिपूर्वक संग्रह किये हुए धन द्रव्य का श्री जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे हुए सात धर्म क्षेत्रों में वितरण करता है। वह त्रिभुवन के राज्य रूप फल को और गर्भादि पंच कल्याण रूप फल को भोगता है अर्थात् सांसारिक सर्वश्रेष्ठ सुखों को भोगकर और तीर्थंकर होकर मोक्ष को प्राप्त करता है।

दान के सात स्थान—जिनविम्ब जिनागारं जिनयात्रा महोत्सव ।
जिनतीर्थ जिनागम जिनायतनानि सप्तधा ॥

(१) जिनविम्ब (२) जिन मन्दिर (३) जिन यात्रा (४) पञ्च कल्याणक आदि-महोत्सव (५) जिन तीर्थोद्वार (६) जिनागम प्रकाशनादि (७) जिन आयतन ।

सम्यग्दर्शनादि गुणों के आधार, आश्रय या निमित्त को आयतन कहते हैं ।

उक्तंच—जिण भवन विम्ब पोत्थय संघ सरुवाई सत खेनेसु ।

जं वइयं धणवीयं तमहं अणुमोयए सकमं ॥

अर्थात् जिन भवन, जिण विम्ब, जिन शास्त्र और मुनि आर्यिका श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ इन सात क्षेत्रों में जो धन रूपी बीज बोया जाता है, वह अपना है ऐसा मैं अनुमोदन करता हूँ ।

मादु पिदुपुत्तमित्तं कलत्तधणधण्णवत्थुवाहणविसयं ।
संसार सारसोक्खं सव्वं जाणउ सुपत्तदाणफलं ॥१९॥

अन्वयार्थ—(मादु) माता (पिदु) पिता (पुत्त) पुत्र (मित्त) मित्र (कलत्त) स्त्री (धण) गाय आदि पशु (धण्ण) अनाज (वत्थु) मकान (वाहण) रथ-हाथी आदि (विसयं) वस्त्र अलंकार आदि वैभव (संसार) संसार के (सार सोक्खं) उत्तम सुख (सव्वं) सब (सुपत्तदाण) सुपात्रदान का (फलं) फल (जाणउ) जानना चाहिये ।

अर्थ—माता-पिता-पुत्र-मित्र-स्त्री आदि कुटुम्ब आदि परिवार का सुख और धन-धान्य वस्त्र अलंकार वाहन महलादि महान् विभूति का सुख सुपात्र दान का फल जानना चाहिये ।

सत्तंगरज्ज णवणिहि भंडार सडंगवलचउद्दहरयणं ।
छण्णवदिसहस्सिच्छिविहउ जाणउ सुपत्तदाणफलं ॥२०॥

अन्वयार्थ—(सत्तंगरज्ज) सप्ताङ्ग राज्य (णवणिहि) नवनिधि (भंडार) कोष (सडंगबल) छह प्रकार की सेना (चउद्दहरयणं) चौदह रत्न

(छण्णवदि) छियानवे (सहसिच्छिं) हजार रानियां (विहउ) [ये सब] वैभव (सुपत्तदाण) सुपात्रदान का (फलं) फल (जाणउ) जानो।

अर्थ—सप्ताङ्ग राज्य, नवनिधि, कोष, छह प्रकार की सेना, चौदह रत्न छियानवे हजार रानियां ये सब वैभव सुपात्र दान का फल जानना चाहिये।

सप्ताङ्ग राज्य—(१) राजा (२) मन्त्री (३) मित्र (४) कोष (५) देश (६) किला (७) सेना

नवनिधि—(१) काल (२) महाकाल (३) नैसर्प (४) पद्म (५) माणव (६) पिंगल (७) शंख (८) सर्व रत्न

षडंग सेना—हाथी, घोडा, रथ, पदाति, गज सवार, अश्व सवार।

चौदह रत्न—चक्र, छत्र, असि, मणि, चर्म और काकिणी ये सात अजीव रत्न है।

सेनापति, गृहपति, हाथी, घोड़ा, स्त्री, शिलावट और पुरोहित ये सात सजीव रत्न है।

सुकुल सुरुव सुलक्खणं सुमइ सुसिक्खा सुसील सुगुणसुचारित्तं।
सुहलेसं सुहणायं सुहसादं सुपत्तदाणफलं ॥२१॥

अन्वयार्थ—(सुकुल) उत्तम कुल (सुरुव) सुन्दर रूप (सुहलक्खण) शुभ लक्षण (सुमइ) श्रेष्ठ बुद्धि (सुसिक्खा) निर्दोष शिक्षा (सुसील) उत्तम शील (सुगुण) उत्कृष्ट गुण (सुचारित्तं) सम्यक चारित्र (सुहलेसं) शुभ लेश्या (सुहणायं) शुभ नाम [कर्म] [और] (सुहसादं) शुभ सुख [सब] (सुपत्तदाणफलं) सुपात्रदान के फल [हैं]

अर्थ—उत्तम कुल, सुन्दर रूप, शुभ लक्षण, श्रेष्ठ बुद्धि, निर्दोष उत्तम शिक्षा उत्तम शील, उत्कृष्ट गुण, उत्तम सम्यक् चारित्र, शुभलेश्या, शुभ नाम [कर्म] और शुभ सुख ये सब सुपात्र दान के फल हैं।

जो मुनिभुत्तवसेसं भुंजइ सो भुंजए जिणुवदिट्ठं।
संसारसार सोक्खं कमसो णिव्वाणवर सोक्खं ।।२२।।

अन्वयार्थ---(जो) जो [गृहस्थ] (मुनिभुत्तवसेसं) मुनि के आहार के पश्चात् अवशिष्ट अन्न को [प्रसाद मानकर] (भुञ्जइ) खाता है (सो) वह (संसार सारसोक्खं) संसार के सारभूत सुखों को और (कमसो) क्रमशः (णिव्वाण) मोक्ष के (वरसोक्खं) उत्तम सुख को (भुञ्जए) भोगता है- ऐसा (जिणुवद्दिट्ठं) जिनेन्द्र देव ने कहा है।

अर्थ—जो [गृहस्थ] मुनि के आहार के पश्चात् अवशिष्ट अन्न को [प्रसाद समझकर] सेवन करता है वह संसार के सारभूत उत्तम सुखों को प्राप्त होता है और क्रम से मोक्ष सुख को प्राप्त होता है, ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

सीदुण्हवाउपिउलं सिलेसिमं तह परीसमव्वाहिं।
कायकिलेसुव्वासं जाणिज्जे दिण्णए दाणं ।।२३।।

अन्वयार्थ---[मुनि की] (सीदुण्ह) शीत या उष्ण (वाउ) वात (पिउलं) पित्त [या] (सिलेसिमं) कफ प्रधान प्रकृति (तह) तथा (परीसम-व्वाहिं) परीश्रम, व्याधि (कायकिलेसुव्वासं) कायक्लेश [तप] और उपवास (जाणिज्जे) जानकर (दाणं) दान (दिण्णए) देना चाहिये।

अर्थ—[श्री मुनिराज या अन्य भी पात्र की प्रकृति] शीत है या उष्ण है या वातरूप है या श्लेष्मा रूप है या पित्तरूप है, मुनिराज ने कायोत्सर्ग और विविध प्रकार के आसनों से कितना श्रम किया है गमनागमन में कितना श्रम हुआ है, मुनि-राज के शरीर में ज्वर संग्रहणी आदि व्याधि की पीड़ा तो नहीं है, कायाक्लेश तप और उपवास के कारण मुनिराज के कण्ठ आदि में शुष्कता तो नहीं है, इत्यादि समस्त वातों का विचार कर उसके उपचार स्वरूप योग्य आहार औषधि दूध गर्म जल आदि देना चाहिये।

हियमियमण्ण पाणं णिरवज्जो सहि णिराउलं ठाणं।
सयणासणमुवयरणं जाणिज्जा देइ मोक्खखो ।।२४।।

अन्वयार्थ—(मोक्खखो) मोक्षमार्ग में अनुरक्त व्यक्ति (हियमियं) हित और मित (अण्णं) अन्न (पाणं) पान (णिखज्जोसहि) निर्दोष औषधि (णिराउलं) निराकुल (ठाणं) स्थान (सयणासणमुवयरणं) शयनोपकरण और आसनोपकरण (जाणिज्जा) आवश्यकतानुसार जानकर (देइ) देता है।

अर्थ—हित मित प्रासुक शुद्ध अन्न पान निर्दोष हितकारी औषधि, निराकुल स्थान, शयनोपकरण, आसनोपकरण, शास्त्रोपकरण आदि दान योग्य वस्तुओं को सुपात्र को आवश्यकतानुसार सम्यग्दृष्टी प्रदान करते हैं।

शयनोपकरण—घास, चटाई, फलक (लकड़ी का तखत) आदि।

आसनोपकरण—लकड़ी का पाटा, चौकी, तखत आदि बैठने के साधन को कहते है।

ज्ञानोपकरण—शास्त्र और ज्ञानवृद्धि के साधन।

शौचोपकरण—कमण्डलु।

संयमोपकरण—पीछी।

अणयाराणं वेज्जावच्चं कुज्जा जहेह जाणिज्जा।
गब्भब्भमेव मादा पिदुच्चणिच्चं तहा णिरालसया ॥२५॥

अन्वयार्थ—(जहेह) जैसे इस लोक में (मादा-पिदुच्च) माता और पिता (गब्भब्भमेव) गर्भ स्थिति या गर्भ से उत्पन्न शिशु का सावधानी से पालन करते हैं (तहा) उसी प्रकार (णिच्चं) सदा (णिरालसया) आलस्य रहित होकर (अणयाराणं) मुनियों की (जाणिज्जा) प्रकृति आदि जानकर (वेज्जावच्चं) वैय्यावृत्य (कुज्जा) करनी चाहिये।

अर्थ—जैसे इस लोक में माता-पिता अपने गर्भ से होने वाले बालक का भरण पोषण लालन पालन और सेवा सुश्रूषा तन मन की एकाग्रता और प्रेमभाव से करते हैं। वैसे ही सुपात्र की वैय्यावृत्य सेवा सुश्रूषा, आहार पान व्यवस्था,

निवास स्थान आदि के द्वारा पात्र की प्रकृति कायक्लेश वातपित्त आदि व्याधि और द्रव्य क्षेत्र काल के उपद्रवों को विचार कर करनी चाहिये।

सप्पुरिसाणं- दाणं-कप्पतरूणं फलाणं सोहवहं।
लोहीणं दाणं जइ विमाण, सोहा, सवं, जाणे ॥२६॥

अन्वयार्थ—(**सप्पुरिसाणं**) सत्पुरुषों-सम्यग्दृष्टि का (**दाणं**) दान (**कप्पतरूणं**) कल्पवृक्ष के (**फलाणं**) फलों की (**सोहवहं**) शोभा को प्राप्त होता है (**लोहीणं**) लोभी पुरुषों का (**जदि**) जो (**दाणं**) दान है-वह (**विमाण सवं**) अर्थी के शव की (**सोहा**) शोभा के समान है (**जाणे**) ऐसा जानो।

अर्थ—सत्पुरुषों (सम्यग्दृष्टी) का दान कल्पवृक्ष के फलों की शोभा के समान है और लोभी पुरुषों का जो दान है वह शव की अर्थी के शोभा के समान है ऐसा जानो।

जसकित्तिपुण्णलाहे देइ सुवहुगंपि जत्थ तत्थेव।
सम्माइ सुगुण भायण पत्तविसेसं ण जाणंति ॥२७॥

अन्वयार्थ—लोभी पुरुष (**जस**) यश (**कित्ति**) कीर्ति [और] (**पुण्णलाहे**) पुण्य लाभ के लिये (**जत्थ तत्थेव**) यत्र तत्र-कुपात्र अपात्र आदि अयोग्य को (**सुवहुगंपि**) अनेक प्रकार भी (**देइ**) दान देता है-वह (**सम्माइ सुगुण भायण**) सम्यक्त्वादि उत्तम गुणों के आधार (**पत्तविसेसं**) सपात्र को (**ण**) नहीं (**जाणंति**) जानता।

अर्थ—लोभी अज्ञानी पुरुष अपनी कीर्ति-यश मान बढ़ाई और पुण्य लाभ की इच्छा से कुपात्र-अपात्र-आदि अयोग्य मिथ्या अनायतनों में अनेक प्रकार से दान देते हैं परन्तु उनको, सम्यक्त्व रत्न से सुशोभित अनेक गुणों की खानि ऐसे सुपात्र की पहिचान नहीं है।

जंतं मंतं तंतं परिचरियं पक्खवाय पियवयणं।
पडुच्च पंचमयाले भरहे दाणं ण किं पि मोक्खस्स ॥२८॥

अन्वयार्थ—(भरहे) भरत क्षेत्र में (पंचमयाले) पंचम काल में (जंतं) यंत्र (मंतं) मंत्र (तंतं) तंत्र (परिचरियं) सेवा-परिचर्या (पक्खवायं) पक्षपात (पियवयणं) प्रियवचन (पडुच्च) प्रतीति के लिये दिया हुआ (किं पि) कोई भी (दाणं) दान (मोक्खस्स) मोक्ष का [कारण] (ण) नहीं है।

अर्थ—इस पंचमकाल में भरत क्षेत्र में यंत्र-मंत्र-तंत्र सेवा परिचर्या पक्षपात प्रियवचन आदि से दिया गया कोई भी दान मोक्ष का कारण नहीं है।

दाणीणं दालिद्दं लोहीणं किं हवेइ महाइसरियं।
उहयाणं पुव्वज्जियकम्मफलं जाव होइ थिरं ॥२९॥

अन्वयार्थ—(दाणीणं) दानी पुरुषों के (दालिद्दं) दरिद्रता (लोहीणं) लोभी पुरुषों के (महाइसरियं) महान ऐश्वर्य (किं) क्यों (हवेइ) होता है (जाव) जब तक (उहयाणं) दोनों के (पुवज्जिय) पूर्वोपार्जित (कम्मफलं) कर्मफल (थिरा) स्थिर-उदय में (होइ) रहता है।

अर्थ—दानी पुरुषों के दरिद्रता और लोभी पुरुषों के महान विभव की प्राप्ति अपने पूर्व उपार्जित कर्म का फल है।

धणधण्णाइ समिद्धे सुहं जहा होइ सव्वजीवाणं।
मुणिदाणाइ समिद्धे सुहं तहा तं विणा दुक्खं ॥३०॥

अन्वयार्थ—(जहा) जैसे (धणधण्णाइ) धन-धान्यादि की (समिद्धे) समृद्धि से (सव्वजीवाणं) समस्त जीवों को (सुहं) सुख (होइ) होता है (तहा) उसी प्रकार (मुणिदाणाइ) मुनि-दान आदि की (समिद्धे) समृद्धि से (सुहं) सुख [होता है, तथा] (तं) उसके (विणा) विना (दुक्खं) दुःख [होता है]

अर्थ—जिस प्रकार धन-धान्यादि वैभव की सम्पन्नता से सुख की प्राप्ति होती है। उसी प्रकार समस्त परिग्रह से, आरम्भ से रहित, वीतरागी मुनीश्वरों को दान देने के फल से समस्त प्रकार के सर्वोत्कृष्ट सुख स्वयमेव प्राप्त हो जाते हैं तथा मुनि-दान के विना [निरन्तर] दुःख ही प्राप्त होते हैं।

पत्त विणा दाणं च सुपुत्त विणा बहुधनं महाखेत्तं।
चित्त विणा वय गुण चारित्तं णिक्कारणं जाणे ॥३१॥

अन्वयार्थ—(पत्त विणा) सुपात्र के विना (दाणं) दान (च) और (सुपुत्त विणा) सुपुत्र के विना (बहु घणं) वहुत सा धन (महाखेत्त) महाक्षेत्र-जमीन-जायदाद (चित्त विणा) भावों के विना (वय) व्रत (गुण) गुण (चारित्तं) चारित्र (णिक्कारणं) निष्प्रयोजन (जाणे) जानो।

अर्थ—जिस प्रकार सुपुत्र के विना महाक्षेत्र-जमीन जायदादि तथा भावों के विन व्रत गुण चारित्र आदि निष्प्रयोजन हैं उसी प्रकार सुपात्र दान के विना बहुत सा धन आदि सब निष्प्रयोजन हैं।

जिण्णुद्धार पतिट्ठा जिणपूजा तित्थवंदण विसयं
घणं जो भुंजइ भुंजइ जिणदिट्ट णरयगइ दुक्खं ॥३२॥

अन्वयार्थ—(जो) जो (जिण्णुद्धार) जीर्णोद्धार (पतिट्ठा) प्रतिष्ठा (जिणपूजा) जिनपूजा (तित्थवंदण) तीर्थ यात्रा (विसयं) संबंधी प्राप्त धन को (भुंजइ) भोगता है (सो) वह (णरयगइदुक्खं) नरक गति के दुःख को (भुंजइ) भोगता है (जिणदिट्ठं) ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

अर्थ—जो व्यक्ति लोभ या मोहवश श्री जिन मन्दिर का जीर्णोद्धार जिन-बिम्ब प्रतिष्ठा, मन्दिर प्रतिष्ठा, जिनेन्द्र भगवान की पूजा, जिन यात्रा, तीर्थयात्रा, रथोत्सव जौर जिन शासनों के आयतनों की रक्षार्थ प्राप्त धन या दान को ग्रहण कर स्वार्थ सिद्ध करता है वह महा पापी नरक में जाता है ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

पुत्तकलित्त विदूरो दारिद्दो पंगु मूक बहिरंधो।
चण्डालाइ कुजादो पूजादाणाइ दव्वहरो ॥३३॥

अन्वयार्थ--(पूजादाणाइ) पूजा-दान आदि के (दव्वहरो) द्रव्य को अपहरण करने वाला (पुत्तकलित्तविदूरो) पुत्र-स्त्री रहित (दारिद्दो) दरिद्री (पंगु मूक बहिरंधो) लगड़ा, गूंगा, वहरा, अन्धा और (चाण्डालाइकुजादो) चाण्डाल आदि कुजाति में उत्पन्न होता है।

अर्थ--जो मनुष्य पूजा-दान आदि के लिये संरक्षित द्रव्य का अपहरण करता है वह पुत्र स्त्री आदि कुटुम्ब परिवार से रहित होता है। दरिद्री, लंगड़ा, गूंगा, वहरा, अन्धा और चाण्डाल आदि कुजाति में उत्पन्न होता है।

इत्थीयफलं ण लब्भइ, जइ लब्भय सो ण भुंजदे णियदं।
वाहीणमायरोसो, पूजादाणाइदव्वहरो ॥३४॥

अन्वयार्थ--(पूजादाणाइ) पूजा दान आदि के (दव्वहरो) द्रव्य का अपहरण करने वाला (इत्थीयफलं) इच्छित फल को (ण) नहीं (लब्भय) प्राप्त करता है (जइ) यदि (लब्भसु) प्राप्त करता है-तो (सो) वह (ण भुंजदे) भोग नहीं पाता है (णियदं) यह निश्चित है (सो) वह (वाहीणमायरो) व्याधियों की खान होता है।

अर्थ--जो मनुष्य पूजा और दान के निमित्त दान दिए हुए द्रव्य का अपहरण करता है वह इच्छित फल को कदापि प्राप्त नही होता है यदि इष्ट वस्तु की प्राप्ति हो भी जाय तो वह उसको भोग नही पाता है यह निश्चित है। वह व्याधियों की खान होता है।

गयहत्थ पायणासिय कणउरंगुलविहीणदिट्ठीए।
जो तिव्वदुक्खमूलो पूजादाणाइ दव्वहरो ॥३५॥

अन्वयार्थ--(जो) जो (पूजादाणाइ दव्वहरो) पूजा, दान आदि के द्रव्य का अपहरण करने वाला है-वह (गय) रहित (हत्थ) हाथ (पाद) पाव

(णासिय) नासिका (कणउरंगुल) कान, अंगुलि (विहीणदिट्ठीए) दृष्टि रहित अर्थात् अंधा और (तिव्वदुक्खमूलो) तीव्र दुःख को प्राप्त होता है।

अर्थ—जो पूजा, दान आदि के द्रव्य का अपहरण करता है वह हाथ, पैर, नासिका, कान अंगुलि आदि रहित हीनांग होता है, आंखों से अन्धा होता है और तीव्र दुःखों को प्राप्त होता है।

खयकुट्ठमूलसूला लूयभयंदर जलोदर खिसिरो।
सीदुण्हवाहिराइ पूजादाणंतरायकम्मफलं ॥३६॥

अन्वयार्थ—(खय) क्षय रोग (कुट्ठ) कुष्ट रोग (मूल) मूल व्याधि (सूला) शूल (लूय) लूता [एक वातिक रोग अथवा मकड़ी का फरना] (भयंदर) भगंदर (जलोदर) जलोदर (खिसिरो) नेत्र रोग और शिर का रोग (सीदुण्ह वाहिराइ) शीत और उष्ण व्याधि आदि (सन्निपात आदि) ये सब (पूजा) पूजा (दाणंतराय कम्मफलं) दान आदि में अन्तराय डालने के कर्म फल हैं।

अर्थ—क्षय रोग, कोढ़, मूलव्याधि, शूल, लूता (वातिक रोग) भगंदर, जलोदर, नेत्र पीड़ा, सिर पीड़ा, शीत उष्ण सम्बन्धी अनेक व्याधियां आदि ये सब पूजा और दान में अन्तराय डालने का कर्मफल है।

णरयतिरियाइदुरइदरिद्दवियलंगहाणि दुक्खाणि।
देवगुरुसत्थवन्दण सुयभेयसज्झादाणविघणफलं ॥३७॥

अन्वयार्थ—(णरय) नरक गति (तिरियाइ) तिर्यञ्चगति (दुरइ) दुर्गति (दरिद्द) दरिद्रता (वियलंग) विकलांग (हाणि) हानि (दुक्खाणि) दुःख ये सब (देव वन्दण) देव वन्दना (गुरू वन्दण) गुरू वन्दना (सत्थ वन्दण) शास्त्र वन्दना (सुयभेय) श्रुत भेद (सज्झादाण) स्वाध्याय और दान में (विघणफलं) विघ्न डालने का फल है।

अर्थ—नरक गति तिर्यञ्चगति, दुर्गति, दरिद्रता, विकलांग, हानि और दुःख ये सब देव वन्दना, गुरु वन्दना, शास्त्र वन्दना, श्रुतभेद, स्वाध्याय और दान मे विघ्न डालने का फल है।

समविषोही तवगुणचारित्तसण्णाणदाणपरिधाणं ।
भरहे दुस्समकाले मणुयाणं जायदे णियदं ॥३८॥

अन्वयार्थ—इस (भरहे) भरत क्षेत्र में (दुस्समकाले) पंचम काल में (मणुयाणं) मनुष्यों के (णियदं) नियम से (सम्म विसोही) सम्यग्दर्शन की विशुद्धि (तव) तप (गुण) मूल गुण (चारित्त) चारित्र (सण्णाण) सम्यग्ज्ञान और (दाण) सम्यग्दान (परिधाणं) धारक (मुनीश्वर व गृहस्थ) (जायदे) होते हैं।

अर्थ—इस भरत क्षेत्र में पंचम काल में नियम से सम्यग्दर्शन की विशुद्धि सहित तप, मूलगुण, चारित्र, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दान के धारक मुनीश्वर और श्रावक होते हैं।

णहि दाणं णहि पूया णहि सीलं णहि गुणं ण चारित्तं ।
जे जइणा भणिया ते, णरया होंति कुमाणुसा तिरिया ॥३९॥

अन्वयार्थ—(जे) जो (णहि) न तो (दाणं) दान देते हैं (णहि) न हो (पूया) पूजा करते हैं (णहि) न ही (सीलं) शील पालते है (णहि) न हो (गुणं) मूलगुण धारण करते है (ण चारित्तं) न चारित्र पालते हैं (ते) वे (णरया) नारकी (कुमाणुसा) कुमानुष और (तिरिया) तिर्यंच (होंति) होते हैं। ऐसा (जइणा) तीर्थङ्करों ने (भणिया) कहा है।

अर्थ—जिन जीवों ने मनुष्य पर्याय प्राप्तकर सुपात्र को दान नही दिया, श्री जिनेन्द्र भगवान की पूजा नहीं की, शीलव्रत (स्वदार संतोष) नही पालन किया, मूल और उत्तर गुणों का पालन नही किया, चारित्र धारण नही किया, जिनेन्द्र कथित वचनों का पालन नही किया वे मनुष्य मरकर परलोक में नारकी, तिर्यञ्च और कुमनुष्य होते है।

ण वि जाणइ कज्जमकज्जं सेयमसेयं पुण्णपावं हि ।
तच्चमतच्चं धम्ममधम्मं सो सम्मउम्मुक्को ॥४०॥

अन्वयार्थ—[जो] (**कज्जमकज्जं**) कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य (**सेयमसेयं**) श्रेय-अश्रेय (**पुण्णपावं**) पुण्य और पाप (**तच्चमतच्चं**) तत्व और अतत्व (**धम्ममधम्मं**) धर्म और अधर्म (**हि**) निश्चय से (**ण वि**) नहीं (**जाणइ**) जानता है (**सो**) वह (**सम्मउम्मुक्को**) सम्यक्त्व से रहित है।

अर्थ—जो कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, हित-अहित, पुण्य-पाप, तत्व-अतत्व और धर्म-अधर्म को निश्चय से नहीं जानता है वह सम्यक्त्व से रहित है।

ण वि जाणइ जोग्गमजोग्गं णिच्चमणिच्चं हेयमुवादेयं ।
सच्चमसच्चं भव्वमभव्वं सो सम्मउम्मुक्को ॥४१॥

अन्वयार्थ—[जो] (**जोग्गमजोग्गं**) योग्य-अयोग्य (**णिच्चमणिच्चं**) नित्य-अनित्य (**हेयमुवादेयं**) हेय-उपादेय (**सच्चमसच्चं**) सत्य-असत्य (**भव्वमभव्वं**) भव्य-अभव्य (**ण वि**) नहीं (**जाणइ**) जानता है (**सो**) वह (**सम्मउम्मुक्को**) सम्यक्त्व से रहित है।

अर्थ—जो योग्य-अयोग्य, नित्य-अनित्य, छोडने योग्य और ग्रहण करने योग्य, सत्य-असत्य, भव्य-अभव्य को नहीं जानता है वह सम्यक्त्व से रहित है।

लोइय जण संगादो होइ मइ मुहरकुडिल दुब्भावो ।
लोइय संगं तम्हा जोइवि तिविहेण मुंचाहो ॥४२॥

अन्वयार्थ—(**लोइय जणसंगादो**) लौकिक जनों की संगति से [मनुष्य की] (**मइ**) मति [बुद्धि] (**मुहर**) वाचाल (**कुडिल**) कुटिल (**दुब्भावो**) दुर्भावना [युक्त] हो जाती है (**तम्हा**) इसलिये (**जोइवि**) देख [भाल] कर (**लोइय संगं**) लौकिक जनों की संगति (**तिविहेण**) तीन प्रकार से [मन, वचन और काय से] (**मुंचाहो**) छोड़ना चाहिये।

अर्थ--लौकिक जनों की संगति से [मनुष्य की] मति भ्रष्ट, वाचाल, कुटिल और दुर्भावनायुक्त हो जाती है इसलिए देखभाल कर [विचार पूर्वक] लौकिक जनों की संगति को मन, वचन, काय से छोड़ देनी चाहिए।

उग्गो तिव्वो दुट्ठो दुब्भावो दुस्सुदो दुरालावो।
दुमदरदो विरुद्धो सो जीवो सम्मउम्मुक्को ॥४३॥

अन्वयार्थ—जो (उग्गो) उग्र (तिव्वो) तीव्र (दुट्ठो) दुष्ट (दुब्भावो) दुर्भावनायुक्त (दुस्सुदो) मिथ्या शास्त्रों का श्रवण करने वाला (दुरालावो) दुष्टभासी (दुमदरदो) मिथ्या अभिमान रत (विरुद्धो) आत्म धर्म के विरुद्ध है (सो जीवो) वह जीव (सम्मउम्मुक्को) सम्यक्त्व रहित है।

अर्थ—जो उग्र [प्रकृति वाला है] तीव्र [क्रोधादि स्वभाव वाला है] दुष्ट [प्रकृति का] दुर्भावना [युक्त है] मिथ्या शास्त्रों को सुनने वाला, खोटे शब्द बोलने [दुष्टभासी] वाला, मिथ्यामद में अनुरक्त और [आगम एवं आत्मा के] विपरीत प्रवृत्ति युक्त है वह जीव सम्यक्त्व से पराङ्मुख है।

खुद्दो रुद्दो रुट्ठो अणिट्ठपिसुणो सगव्वियो सुइओ।
गायण जायण भंडण दुस्सण सीलो दु सम्मुउम्मुको ॥४४॥

अन्यवयार्थ—(खुद्दो) क्षुद्र प्रकृति वाले (रुद्दो) रुद्र प्रकृति वाले (रुट्ठो) रुष्ठ प्रकृति वाले (अणिट्ठपिसुणो) दूसरों का अनिष्ट चाहने वाला, चुगलखोर (सगव्वियो) गर्विष्ठ (सुइओ) ईर्ष्यालु (गायण) गायक (जायण) याचक (भंडण) लड़ाई-झगड़े करने वाले (दुस्सण) दूसरों के दोषों को प्रकट करने वाले ये सब सम्यक्त्व से पराङ्मुख होते हैं।

अर्थ—क्षुद्र प्रकृति वाले, रौद्र परिणामी, रुष्ठ प्रकृति वाला दूसरों का अनिष्ट चाहने वाला, चुगलखोर, गर्विष्ठ, ईर्ष्यालु, गायक, याचक, लड़ाई-झगड़ा करने वाले दूसरों के दोषों को प्रकट करने वाले [ये सब] सम्यक्त्व से रहित होते हैं।

वाणर गद्दह साण गय वग्घ वराह कराह ।
मक्खिजलूयसहावणर जिणवर धम्मविणासु ।।४५।।

अन्वयार्थ--(**वाणर**) बन्दर (**गद्दह**) गधा (**साण**) कुत्ता (**गय**) हाथी (**वग्घ**) वाघ (**वराह**) सूअर (**कराह**) कच्छप (**मक्खि**) मक्खी (**जलूय**) जोंक (**सहावणर**) स्वभाव वाले मनुष्य (**जिणवर धम्म**) जिनवर धर्म के (**विणासु**) विनाशक हैं।

अर्थ—बन्दर सम स्वभाव वाले, गधा के स्वभाव वाले, कुत्ता, हाथी, वाघ सूअर, कच्छप, मक्खी, जोंकादि स्वभाव वाले मनुष्यो को जिन धर्म धारण नहीं होता है।

कुतव कुलिंग कुणाणी कुवयकुसील कुदंसण कुसत्थो ।
कुणिमित्ते संथुय थुइ पसंसण सम्महाणि होइ णियमं ।।४६।।

अन्वयार्थ--(**कुतव**) मिथ्यातात (**कुलिंग**) मिथ्यावेष धारण करने वाले (**कुणाणी**) मिथ्याज्ञानी (**कुवय**) मिथ्याव्रत (**कुसील**) मिथ्याशील (**कुदंसण**) मिथ्यादर्शन (**कुसत्थो**) मिथ्या शास्त्र (**कुणिमित्ते**) झूठे निमित्तों की (**संथुय**) संस्तुति (**थुइ**) स्तुति और (**पसंसण**) प्रशंसा करने से (**णियमं**) नियम से (**सम्महाणि**) सम्यक्त्व की हानि (**होइ**) होती है।

अर्थ—मिथ्यातपश्चरण करने वाले कुत्सित भेष को धारण करने वाले, मिथ्याज्ञानी कीं आराधना करने वाले, कुत्सित व्रताचरणों को पालन करने वाले कुशील सेवक, मिथ्यादर्शन के भाव वाले, मिथ्या शास्त्रों के पढ़ने वाले कुदेव-कुगुरू-कुधर्म की संस्तुति, स्तुति या प्रशंसा करने से नियम से सम्यक्त्व की हानि होती है।

सम्मविणा सण्णाणं सच्चारित्तं ण होइ णियमेण ।
तो रयणत्तयमज्झे सम्मगुणुक्किट्ठमिदि जिणुदिट्ठं ।।४७।।

अन्वयार्थ--(**सम्म विणा**) सम्यग्दर्शन के विना (**सण्णाणं**) सम्यग्ज्ञान

श्रौर (सच्चारित्तं) सम्यक् चारित्र (णियमेण) नियम से (ण) नहीं (होइ) होना है (तो) इसलिए (रणत्तय मज्झे) रत्नत्रय में (सम्मगुणुक्किट्ठं) सम्यग्दर्शन गुण उत्तुष्ट है (इदि) इस प्रकार (जिणुदिट्ठं) जिनेन्द्र देव ने कहा है।

अर्थ—सम्यग्दर्शन के विना सम्यग्ज्ञान श्रौर सम्यक् चारित्र नियम से नहीं होते हैं। इसलिए रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन गुण उत्कृष्ट है इस प्रकार जिनेन्द्र देव ने कहा है।

तणुकुट्ठी कुलभंगं कुणइ जहा मिच्छमप्पणो वि तहा।
दाणाइ सुगुण भंगं गइभंगं मिच्छमेव हो कट्ठं ॥४८॥

अन्वयार्थ—(जहा) जिस प्रकार (तणुकुट्ठी) शरीर से कोढ़ी व्यक्ति (कुलभंगं) अपने कुल का विनाश (कुणइ) कर देता है (तहा) उसी प्रकार (मिच्छंप् वि) मिथ्यात्व भी (अप्पणो) अपने (दाणाइ) दान आदि (सुगुणभंगं) सद्गुणों का विनाश (और) (गइभंगं) सद्गति का विनाश करता है (हो) अहो (मिच्छमेव) मिथ्यात्व ही (कट्ठं) कष्टप्रद है।

अर्थ—जिस प्रकार कोढ़ रोग वाला मनुष्य अपने कुष्ट रोग के कारण कुल को नष्ट कर देता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव अपने दानादि (दान, पूजा, चारित्रादि) सद्गुणों का विध्वंस करता है, इसलिए मिथ्यात्व सेवन ही विशेष कष्ट प्रद है।

देवगुरु धम्मगुणचारित्तं तवायार मोक्ख गइभेयं।
जिणवयण सुदिट्ठिविणा दीसइ किह जाणए सम्मं ॥४९॥

अन्वयार्थ—(देव) जिनेन्द्र देव (गुरु) निर्ग्रन्थ गुरु (धम्म) धर्म (गुण) गुण (चारित्तं) चारित्र (तवायार) तपाचार (मोक्खगइभेयं) मोक्ष गति का रहस्य (जिणवयण) जिनदेव के वचन (सुदिट्ठिविणा) सम्यग्दृष्टि

के विना (किह) क्या (दीसइ) दीखते हैं [या] (जाणए) जाने जा सकते हैं (सम्मं) सम्यग्दर्शन ही इन सवको देखता और जानता है।

अर्थ--देव गुरू धर्म, गुण, चारित्र, तपाचार, मोक्षगति का रहस्य और जिनेन्द्र देव के वचन सम्यग्दृष्टि के विना क्या देखे या जाने जा सकते हैं ? सम्यग्दृष्टि ही इन सवको देखता और जानता है।

एक्कु खणं ण विंचितइ मोक्खणिमित्तं णियप्पसहावं।
अणिसं विचित्तपावं बहुलालावं मणे विचिंतेइ ॥५०॥

अन्वयार्थ—[मिथ्यादृष्टि] (**मोक्खणिमित्तं**) मोक्ष प्राप्ति में निमित्त भूत (**णियप्पसहावं**) अपने आत्मस्वभाव का (**एक्कु खणं वि**) एक क्षण भी (**चिंतइ**) चिन्तन (**ण**) नहीं करता है तथा (**अणिसं**) रात-दिन (**विचित्त**) विचित्र (**पावं**) पाप का (**विंचितेइ**) चिन्तन करता है (**मणे**) मन में (**वहुलालावं**) परवस्तु की निरन्तर अभिलाषा करता है।

अर्थ—मिथ्यादृष्टि मोक्ष प्राप्ति में निमित्त भूत अपने आत्मस्वभाव का एक क्षण भी चिन्तन नहीं करता है तथा रात-दिन विचित्र पापों का चिन्तन करता है [और] मन में परवस्तुओं की निरंतर अभिलाषा करता है।

मिच्छामइ मयमोहासवमत्तो बोलए जहा भुल्लो।
तेण ण जाणइ अप्पा अप्पाणं सम्म भावाणं ॥५१॥

अन्वयार्थ-(**मिच्छामइ**) मिथ्यादृष्टि (**मयमोहासवमत्तो**) मद और मोह रूपी मदिरा से मतवाला होकर (**जहा भुल्लो**) भुलक्कड़ के समान (**बोलए**) व्यर्थ बोलता है (**तेण**) इसलिये वह (**अप्पा**) अपनी आत्मा को और (**अप्पाणं**) आत्मा के (**सम्म**) साम्य (**भावाणं**) भाव को (**ण**) नहीं (**जाणइ**) जानता है।

अर्थ–मिथ्यादृष्टि जीव मद और मोह रुपी शराव के पान से उन्मत्त हो मदि-

रापान करने वाले भुलक्कड़ के समान यद्वा-तद्वा प्रवृति करता है, बोलता है इसलिये वह आत्मा को और आत्मा के साम्य भाव को नही जानता है।

मिहरो महंधयारं मरुदो मेहं महावणं दाहो।
वज्जो गिरिं जहा विर्यसिज्जइ सम्मे तहा कम्मं ॥५२॥

अन्वयार्थ—(जहा) जैसे (मिहरो) सूर्य (महंधयारं) महांधकार को (मरुदो) वायु (मेहं) मेघ को (दाहो) अग्नि (महावणं) महावन को (वज्जो) वज्र (गिरिं) पर्वत को (विर्यसिज्जइ) विनाश कर देता है, (तहा) वैसे (सम्मे) सम्यग्दर्शन (कम्मं) कर्म को [नाश करता है]

अर्थ—जिस प्रकार सूर्य अंधकार को तत्काल नष्ट कर देता है। वायु मेघ का नाश करती है। दावानल वन को जला देता है। वज्र पर्वतों का भेदन कर देता है उसी प्रकार एक सम्यक्त्व समस्त कर्मो का नाश कर देता है।

मिच्छंधयाररहियं हियमज्झमिव सम्मरयणदीव कलावं।
जो पज्जलइ स दीसइ सम्मं लोयत्तयं जिणुदिट्ठं ॥५३॥

अन्वयार्थ—(जो) जो (मिच्छंधयाररहियं) मिथ्यात्वरूपी अन्धकार से रहित (सम्मरयणदीव कलावं) सम्यक्त्वरूपी दीपक को (हियमज्झं) हृदय मन्दिर में (पज्जलइ) प्रज्जवलित करता है (स) वह (लोयत्तयं) त्रिलोक को (सम्मं) समीचीन प्रकार से (दीसइ) देखता है (इदि) ऐसा (जिणुदिट्ठं) जिनदेव ने कहा है।

अर्थ—जो अपने हृदय-मन्दिर मे सम्यक्त्वरूपी दीपक प्रज्जवलित करता है वह त्रिलोक को समीचीन प्रकार से देखता है ऐसा जिनदेव ने कहा है।

कामदुहिं कप्पतरुं चिंतारयणं रसायणं परमं।
लद्धो भुंजइ सोक्खं जहट्ठियं जाण तह सम्मं ॥५४॥

अन्वयार्थ—[जहां-जैसे] [भाग्यवान पुरुष] (कामदुहिं) कामधेनु,(कप्प-

तरु) कल्पवृक्ष और (चिंतारयणं) चिन्तामणि रत्न (रसायणं) रसायण (लद्धो) प्राप्त कर (परमं) उत्कृष्ट [मनवांछित इन्द्रिय सुखों को] (सोक्खं) सुख को (भुंजइ) भोगता है (तह) वैसे ही जिसने (सम्मं) सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लिया है वह (जहट्ठियं) यथास्थिति सुख को प्राप्त होता है (जाण) ऐसा जानो।

अर्थ—जिस प्रकार भाग्यशाली मानव कामधेनु, कल्पवृक्ष, चिन्तामणि रत्न और रसायन को पाकर मनवांछित इन्द्रिय सुखों को भोगता है उसी प्रकार जिसने सम्यक्त्वरूपी रत्न को प्राप्त कर लिया है वह क्रमशः भुक्ति व मुक्ति के सुखों को भोगता है ऐसा जानो।

कतकफलभरियणिम्मल जलं ववगय कालिया सुवण्णं च।
मलरहियसम्मजुत्तो भव्ववरो लहइ लहु मोक्खं ॥५५॥

अन्वयार्थ—(कतकफल) निर्मली (भरिय) भरित [युक्त] (णिम्मल जलं) निर्मल जल [की भांति] और (ववगय) दूर हो गई है (कालिया) कालिमा [जिससे ऐसे] (सुवण्णं) स्वर्ण [के समान] (मलरहिय) मल रहित [निर्दोष] (सम्मजुत्तो) सम्यग्दर्शन युक्त (भव्ववरो) भव्योत्तम (लहु) शीघ्र (मोक्खं) मोक्ष को (लहइ) प्राप्त करता है।

अर्थ—जिस प्रकार निर्मली डालने से पानी निर्मल हो जाता है मिट्टी से मिले हुए स्वर्ण पत्थर जिस प्रकार कीट कालिमा रहित शुद्ध स्वर्ण हो जाता है उसी प्रकार निर्दोष सम्यग्दर्शन से युक्त जीव समस्त प्रकार के कर्ममल से रहित हो शुद्ध स्वभाव को प्राप्त हो जाता है और उसको सहज लीलामात्र में ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

पुव्वट्ठियं खवइ कम्मं पविसदु णो देइ अहिणवं कम्मं।
इहपरलोयमहप्पं देइ तहा उवसमो भावो ॥५६॥

अन्वयार्थ--(उवसमो) उपशम (भावो) भाव (पुव्वट्ठियं) पूर्वस्थित (कम्मं) कर्म का (खवइ) क्षय करता है [तथा] (अहिणवं) नवीन (कम्मं) कर्मों को (पविसदु) प्रविष्ट होने (णो) नहीं (देइ) देता है (तहा) तथा (इह) इस [लोक में] (परलोय) पर लोक में (महप्पं) महात्म्य (देइ) देता [प्रकट करता है।

अर्थ--उपशम भाव जीवों के पूर्वाजित कर्म का क्षय करता है तथा नवीन कर्मों का आस्रव नहीं होने देता है तथा उभयलोक में महात्म्य को प्रकट करता है।

सम्माइट्ठी कालं बोलइ वेरग्गणाण भावेण।
मिच्छाइट्ठी वांछा दुब्भावालस्स कलहेहिं ॥५७॥

अन्वयार्थ--(सम्माइट्ठी) सम्यग्दृष्टि (वेरग्ग) वैराग्य [और] (णाण-भावेण) ज्ञान भाव से (कालं) समय (बोलइ) बिताता है [और] (मिच्छाइट्ठी) मिथ्यादृष्टि (वांछा) आकांक्षा (दुब्भाव) दुर्भावना (आलस्स) आलस्य और (कलहेहिं) कलह में [अपना समय व्यतीत करता है]

अर्थ--सम्यग्दृष्टि अपना समय वैराग्य और ज्ञान भाव में व्यतीत करता है और मिथ्यादृष्टि अपना समय आकांक्षा दुर्भावना, आलस्य और कलह मे व्यतीत करता है।

अज्जवसप्पिणी भरहे पउरा रुद्दट्ठ झाणया दिट्ठा।
णट्ठा दुट्ठा कट्ठा पापिट्ठा किण्णणीलकाऊदा ॥५८॥

अन्वयार्थ-(अज्जवसप्पिणी) आज/वर्तमान काल अवसर्पिणी [काल में] (भरहे) भरत [क्षेत्र] में (पउरा) अधिक मात्रा में (रुद्दट्ठ झाणया) रौद्र और आर्त्त ध्यानी [तथा] (णट्ठा) नष्ट (दुट्ठा) दुष्ट (कट्ठा) कष्ट (पापिट्ठा) पापी (किण्ह) कृष्ण (णील) नील (काउदा) कापोत [लेश्या वाले] (दिट्ठा) देखे जाते हैं।

अर्थ—आज (इस वर्तमान काल में) अवसर्पिणी काल में (भरहे) भरत क्षेत्र मे आर्तध्यानी, रौद्रध्यानी, भ्रष्ट, दुष्ट, कष्टी, पापी जीव तथा कृष्ण-नील-कापोत लेश्या वाले जीव अधिक संख्या मे देखे जाते है।

अज्जवसप्पिणी भरहे पंचमयाले मिच्छपुव्वया सुलहा।
सम्मत्तपुव्वसायारणयारा दुल्लहा होंति ॥५६॥

अन्वयार्थ-(**अज्जवसप्पिणी**) आज [वर्तमान] अवसर्पिणी [काल में] (**भरहे**) भरत क्षेत्र में (**पंचमयाले**) पंचम काल में (**मिच्छपुव्वया**) मिथ्या दृष्टी जीव (**सुलहा**) सुलभ [है] (किन्तु) (**सम्मत्तपुव्व**) सम्यग्दृष्टि वाले (**सायारणयारा**) श्रावक (और) मुनि (**दुल्लहा**) दुर्लभ (**होंति**) होते है।

अर्थ—आज वर्तमान अवसर्पिणी (काल मे) के पंचम काल में भरतक्षेत्र में मिथ्यादृष्टी जीव सुलभ है तथा सम्यग्दृष्टी जीव दुर्लभ होते है।

अज्जवसप्पिणी भरहे धम्मज्झाणं पमादरहिदोत्ति।
होदित्ति जिणुदिट्ठं णहु मण्णइ सोहु कुदिट्ठी ॥६०॥

अन्वयार्थ-(**अज्जवसिप्पिणी**) आज/वर्तमान में अवसर्पिणी काल में (**भरहे**) भरत क्षेत्र में (**धम्मज्झाणं**) धर्म ध्यान (**पमादरहिदोत्ति**) प्रमाद रहित [होता है] ऐसा (**णहु**) नहीं (**मण्णइ**) मानता है (**सो**) वह (**हु**) भी (**कुदिट्ठी**) मिथ्यादृष्टि (**होदित्ति**) होता [है] ऐसा (**जिणुदिट्ठं**) जिनेन्द्र देव ने कहा (है)

अर्थ—इस भरत क्षेत्र में अवसर्पिणी के पंचम काल में श्री मुनीश्वरों के प्रमाद रहित धर्म ध्यान होता है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। जो इसको नही मानता है वह मिथ्यादृष्टी है।

असुहादो णिरयाउं सुहभावादो दु सग्गसुहमाओ।
दुहसुहभावं जाणइ जं ते रुच्चेइ तं कुणहो ॥६१॥

अन्वयार्थ—(असुहादो) अशुद्ध भावों से (णिरयाऊ) नरक आयु (सुहभावादो) शुभ भावों से (दु) तो (सग्गसुहमाओ) स्वर्ग सुख मिलता है (दुहसुहभावं) दुःख-सुख भावों को (जाणइ) जानकर (जं) जो (ते) तुमको (रुच्चेइ) रूचे (तं) उसे (कुणहो) करो।

अर्थ—जीव अशुभ भावों से नरक आयु और शुभ भावों से देवायु में स्वर्ग सुख को प्राप्त होते है (इसीलिये) दुःख-सुख भावों को जानकर जो तुमको रुचे उसको करो।

हिंसाइसु कोहाइसु मिच्छाणाणेसु पक्खवाएसु।
मच्छरिएसु मएसु दुरिहिणिवेसेसु असुहलेसेसु ॥६२॥
विकहाइसु रुद्दट्टज्झाणेसु असुयगेसु दंडेसु।
सल्लेसु गारवेसु खाइसु जो वट्टइए असुह भावो॥ ६३॥

अन्वयार्थ—(हिंसाइसु) हिंसादि में, (कोहाइसु) क्रोधादि में, (मिच्छाणाणेसु) मिथ्याज्ञान में, (पक्खवाएसु) पक्षपात में, (मच्छरिएसु) मात्सर्य भाव में, (मएसु) मदों में, (दुरिहिणिवेसेसु) दुरभिमानों में, (असुहलेसेसु) अशुभ लेश्याओं में, (विकहाइसु) विकथादि में, (रुद्दट्टज्झाणेसु) रौद्र आर्तध्याना में, (असुयगेसु) ईर्ष्या डाह में (दंडेसु) असंयमों में (सल्लेसु) शल्यों में (गारवेसु) मान बढ़ाई में (खाईसु) ख्याति में (जो) जो (वट्टइए) रहता है–वर्तता है [वह] (असुहभावो) अशुभ भाव है।

अर्थ—हिंसा-झूठ-चोरी कुशील परिग्रह आदि पापाचरण रूप परिणाम क्रोध मान-माया-लोभ कषाय रूप परिणाम, मिथ्याज्ञान, पक्षपात, मत्सर भाव, ज्ञान-पूजा कुल-जाति बल-ऋद्धि, तप और शरीर के मद रूप परिणाम, सप्त तत्वों के परिज्ञान में संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रुप परिणाम, कृष्ण-नील-कापोत रूप अशुभ लेश्या के परिणाम, राजकथा-चोर कथा-स्त्री कथा-भोजनकथादि विकथा रूप परिणाम आर्त और रौद्र ध्यान रूप परिणाम, असूय परिणाम [दूसरो के गुणों को सहन नहीं

कर पाना] मन-वचन-काय की दुष्प्रवृत्ति रूप परिणाम, माया-मिथ्या-निदान शल्य युक्त परिणाम, रस गारव-ऋद्धि गारव-सात गारवादि गारव रूप परिणाम, अपनी ख्याति पूजा प्रतिष्ठा आदि अनेक प्रकार के दुर्भाव, खोटे परिणाम सब अशुभ भाव हैं।

दव्वत्थिकायछप्पणतच्चपयत्थेसु सत्तणवएसु।
बंधणमुक्खे तक्कारणरूवे वारसणुवेक्खे ॥६४॥

रयणत्तयस्स रूवे अज्जाकम्मे दयाइसद्धम्मे।
इच्चेवमाइगो जो वट्टइ सो होइ सुहभावो ॥६५॥

अन्वयार्थ–(**जो**) जो (**छप्पण**) छह और पांच (**दव्वत्थिकाय**) द्रव्य, अस्तिकाय, (**सत्तणवएसु**) सात और नौ (**तच्चपयत्थेसु**) तत्व और पदार्थों में (**बंधण-मोक्खे**) वन्ध और मोक्ष में (**तक्कारणरूवे**) उन [दोनों] के कारणों में (**वारसणुवेक्खे**) वारह अनुप्रेक्षाओं में (**रयणत्तयस्स रूवे**) रत्नत्रय स्वरूप में (**अज्जाकम्मे**) आर्य कर्म में (**दयाइसद्धम्मे**) दया आदि सद्धर्म में (**इच्चेव-माइगो**) इत्यादिकों में (**वट्टइ**) वर्तन करता है (**सो**) वह (**सुहभावो**) शुभभाव (**होइ**) होता है।

अर्थ––छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय, सात तत्व और नव पदार्थो में, वन्ध, मोक्ष तथा उनके कारणों में, वारह अनुप्रेक्षा, रत्नत्रय रूप मे, श्रेष्ठ कर्मो में दयादि सद्धर्म इत्यादिक में जो वर्तता है वह शुभभाव होता है।

छः द्रव्य––१. जीव २. पुद्गल ३. धर्म ४. अधर्म ५. आकाश ६ काल।

पांच अस्तिकाय––१. जीव २. पुद्गल ३. धर्म ४. अधर्म ५. आकाश।

सात तत्व––१. जीव २. अजीव ३. आश्रव ४. वंध ५. संवर ६. निर्जरा ७. मोक्ष।

नव पदार्थ--१. जीव २. अजीव ३. आश्रव ४. बंध ५. संवर ६. निर्जरा ७. मोक्ष ८. पुण्य ९. पाप।

बारह अनुप्रेक्षा--१. अनित्य २. अशरण ३. संसार ४. एकत्व ५. अन्यत्व ६ अशुचि ७. आश्रव ८. संवर ९ निर्जरा १०. लोक ११. बोधि दुर्लभ १२. धर्म।

रत्नत्रय--१. सम्यग्दर्शन २. सम्यग्ज्ञान ३. सम्यक चारित्र।

१० सद्धर्म--१ उत्तम क्षमा २. मार्दव ३. आर्जव ४. शौच ५. सत्य ६. संयम ७. तप ८. त्याग ९. आकिञ्चन्य १०. ब्रह्मचर्य। 13-10-96

सम्मत्तगुणाइ सुग्गइ मिच्छादो होइ दुग्गई णियमा।
इदि जाण किमिह बहुणा जं ते रुच्चइ तं कुणहो ॥६६॥

अन्वयार्थ--(सम्मत्तगुणाइ) सम्यक्त्व गुण से (सुग्गइ) सद्गति और (मिच्छादो) मिथ्यात्व से (णियमा) नियम से (दुग्गइ) दुर्गति (होइ) होती है (इदि) ऐसा (जाण) जानकर (इह) यहां (बहुणा) बहुत कहने से (किं) क्या [लाभ] (जं) जो (ते) तुझे (रुच्चइ) अच्छा लगता है (तं) वह (कुणहो) कर।

अर्थ--सम्यक्त्व गुण या सम्यग्दर्शन से सद्गति और मिथ्यात्व से नियम से दुर्गति होती है ऐसा जानकर जो तुझे करना है वह कर। बहुत कहने से क्या लाभ है?

मोह ण छिज्जइ अप्पा दारुण कम्मं करेइ बहुवारं।
णहु पावइ भवतीरं किं बहु दुक्खं वहेइ मूढमई ॥६७॥

अन्वयार्थ--यह (अप्पा) आत्मा (मोह) मोह का (ण) नहीं (छिज्जइ) क्षय करता [है] किन्तु (दारुण कम्मं) दारुण कर्मों को (बहुवारं) बहुत बार (करेइ) करता है इसलिए प्राणी (भवतीरं) संसार का किनारा (णहु) नहीं

ही (पावइ) पाता है और (मूढमई) मूढमति (किं) कैसे (बहुदुक्खं) अनेक दुःख (वहेइ) भोगता है।

अर्थ—यह आत्मा मोह का क्षय तो नहीं करता है और मन, वचन, काय से कठिन कार्यों को (व्रततपश्चरण आदि को) वार-वार करता है क्या इससे संसार समुद्र से पार होगा ? व्यर्थ ही मूर्ख दुःखों को सहन करता है।

धरियउबाहिरलिंग परिहरियउ बाहिरक्खसोक्खं हि।
करियउ किरिया कम्मं मरियउ जमियउ बहिरप्पजिउ ॥६८॥

अन्वयार्थ—(बहिरप्पजिउ) बहिरात्मा जीव (बाहिरलिंग) बाह्य भेष को (धरियउ) धारण [कर] (बाहिरक्खसोक्खं) बाह्य इन्द्रियों के सुख को (हि) ही (परिहरियउ) छोड़ता हैं और (किरियाकम्मं) क्रिया काण्ड को (करियउ) करता [हुआ] (मरियउ) मरता है (जमियउ) जन्म लेता है।

अर्थ—बहिरात्मा जीव बाह्य भेष को धारण कर बाह्य इन्द्रिय सुखों को ही छोड़ता है कठोर तपश्चरण करता है पर अन्तरंग में विषय लालसा बनी रहती है इसलिये वह कर्मकाण्ड को करता हुआ वार-वार जन्म-मरण करता हैं।

मोक्खणिमित्तं दुक्खं वहेइ परलोयदिट्ठि तणुदंडी।
मिच्छाभाव ण च्छिज्जइ किं पावइ मोक्खसोक्ख हि ॥६९॥

अन्वयार्थ—(परलोयदिट्ठी) परलोक पर दृष्टि रखने वाला (तणुदंडी) देहाश्रित [बहिरात्मा] [अनेक काय कलेश सहनेवाला] (मोक्खणिमित्तं) मोक्ष के निमित्त (दुक्खं) दुःख (वहेइ) उठाता है किन्तु उससे (मिच्छाभाव) मिथ्यात्व भाव (ण) नहीं (छिज्जइ) छीजता है अतः (मोक्खसोक्ख) मोक्ष सुख को (हि) निश्चय से (किं) कैसे (पावइ) पाता है।

अर्थ—बहिरात्मा जीव मोक्ष के निमित्त नाना प्रकार के बाह्य तपश्चरण वगैरह करके दुःख सहन करता है पर उसकी दृष्टि परलोक याने शरीर में बनी रहती है इसलिये अपना मिथ्याभाव का क्षय नहीं कर पाता है तो मोक्षसुख को कैसे पाता है। अर्थात मोक्षसुख उसे नहीं मिलता है।

ण हु दंडइ कोहाइं देहं दंडेइ कहं खवइ कम्मं।
सप्पो किं मुवइ तहा वम्मिउ मारिए लोए ॥७०॥

अन्वयार्थ—[यह जीव] (कोहाइं) क्रोधादिकों को (दंडेइ) दण्ड देता (ण हु) नहीं है [किन्तु] (देहं) शरीर को (दंडेइ) दण्ड या पीड़ा देता है [इससे] (कम्मं) कर्मों का (कहं) कैसे (खवइ) क्षय करता [सकता है) (किं) क्या (लोए) लोक में (वम्मिउ) बांबी (साप के बिल) को (मारिए) मारने पर (सप्पो) सांप (मुवइ) मरता है ?

अर्थ—यह जीव क्रोधादि कषायों को तो दण्ड नहीं देता अर्थात् वहिरात्मा जीव क्रोधमान माया लोभ रूप कषायों का तो त्याग नहीं करता है और तपश्चरण आदि के द्वारा शरीर को दण्ड [कष्ट] देता है इससे उसके कर्म नष्ट हो जायेंगे क्या ? असंभव है क्योंकि लोक मे सर्प के बिल को मारने से सर्प नहीं मरता है।

उवसमतवभावजुदो णाणी सो ताव संजदो होइ।
णाणी कसायवसगो असंजदो होइ सो ताव ॥७१॥

अन्वयार्थ—(जो) (णाणी) ज्ञानी (उवसमतवभावजुदो) उपशम, तप भाव से युक्त (है) (सो) वह (ताव) तब तक (संजदो) संयमी (होइ) होता है [जब तक] (णाणी) ज्ञानी (कसायवसगो) कषाय के वश में [होता है] (ताव) तब तक (सो) वह (असंजदो) असंयमी (होइ) होता है।

अर्थ—ज्ञानी (जब) उपशम और तप भाव से युक्त रहता है तभी वह संयमी है (किन्तु) जब वह कषाय के वशीभूत रहता है तब असंयमी रहता है।

उपशम (राजवार्तिक) जैसे कतकफल या निर्मली के डालने से मैले पानी का मैल नीचे बैठ जाता है और जल निर्मल हो जाता है, उसी तरह परिणामों की विशुद्धि से कर्मो की शक्ति का अनुद्‌भूत रहना अर्थात प्रकट न होना उपशम है।

(राजवार्तिक) १११/३/२२ प्रणिधान, उपयोग, परिणाम ये सब एकार्थवाची है।

(धवला) अतएव यह स्थित हुआ कि साता के बन्ध योग्य परिणाम का नाम विशुद्धि है।

णाणी खवेइ कम्मं णाणबलेणेदि बोल्लए अण्णाणी।
विज्जो भेसज्जमहं जाणे इदि णस्सदे वाही ॥७२॥

अन्वयार्थ--(णाणी) ज्ञानी (णाणबलेण) ज्ञान के बल से (कम्मं) कर्म को (खवेइ) क्षय करता है (इदि) इस प्रकार (अण्णाणी) अज्ञानी (बोल्लए) बोलता है (भेसज्जमहं) औषध [का] मैं (विज्जो) [ज्ञाता] वैद्य [हूं] (इदि) इस प्रकार (जाणे) जानने से [क्या] (वाहि) व्याधि (णस्सदे) नाश होती [है] ?

अर्थ—ज्ञानी ज्ञान के बल से कर्मो का क्षय करता है जो इस प्रकार कहता है वह अज्ञानी है क्योंकि चारित्र के अभाव में मात्र ज्ञान से कभी भी कर्मों का क्षय नहीं होता है। मैं सब औपधियों का ज्ञाता हूं, मैं एक महान वैद्य हूं मात्र इतना कहने से क्या व्याधियां नष्ट हो जाती हैं ? कभी नहीं।

पुव्वं सेवइ मिच्छा मलसोहणहेउ सम्मभेसज्जं।
पच्छा सेवइ कम्मामयणासण चरियसम्मभेसज्जं ॥७३॥

अन्वयार्थ-(पुव्वं) पहले (मिच्छा) मिथ्यात्वरूपी (मल) मल (सोहणहेउ) शोधन की कारण (सम्मभेसज्जं) सम्यक्तवरूपी औपधि का (सेवइ) सेवन

किया जाता है (पच्छा) पश्चात् (कम्म) कर्मरूपी (आमय) रोग (णासण) नाश करने के लिए (सम्म) सम्यक् (चरिय) चारित्र रूपी (भेसज्जं) औषध (सेवइ) सेवन [करे]

अर्थ—मिथ्यात्व मल को शोधन करने के लिये पहले सम्यक्त्व रूपी औषधि का सेवन किया जाता है। पश्चात् कर्मरूपी रोग नाश करने के लिये सम्यक् चारित्र रूपी औषध का सेवन किया जाता है।

अण्णाणी विसयविरत्तादो जो होइ सयसहस्सगुणो।
णाणी कसायविरदो विसयासत्तो जिणुद्दिट्ठं ॥७४॥

अन्वयार्थ—(कसायविरदो) कषायों से विरक्त तथा (विसयासत्तो) विषयों में आसक्त (णाणी) ज्ञानी (पुरुष के) (विसयविरत्तादो) विषयों से विरक्त (जो) जो (अण्णाणी) अज्ञानी [है उसकी अपेक्षा] (सयसहस्स गुणो) लाख गुणा [फल] (होइ) होता है [ऐसा](जिणुद्दिट्ठं) जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

अर्थ—विषयों से विरक्त अज्ञानी की अपेक्षा कषायों से विरक्त तथा विषय में आसक्त ज्ञानी को लाख गुणा फल प्राप्त होता है ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

विणओ भत्तिविहीणो, महिलाणं रोयणं विणा णेहं।
चागो वेरग्ग विणा, एदेदो वारिआ भणिया ॥७५॥

अन्वयार्थ—(भत्तिविहीणो) भक्ति के विना (विणओ) विनय (णेहं विणा) स्नेह के विना (महिलाणं) महिलाओं का (रोयणं) रोना और (वेरग्ग) वैराग्य के (विणा) विना (चागो) त्याग (एदेदो) ये (वारिआ) प्रतिषिद्ध (भणिया) कहे गये हैं।

अर्थ—भक्ति के विना विनय, स्नेह के विना महिलाओं का रोना और वैराग्य के विना त्याग ये सब विडम्बना मात्र है।

सुहडो सूरत्त विणा महिला सोहग्गरहिय परिसोहा।
वेरग्गणाणसंजमहीणा खवणा ण किं वि लब्भंते ॥७६॥

अन्वयार्थ--(सूरत्त) शूरता (विणा) विना (सुहडो) सुभट, योद्धा (सोहग्ग) सौभाग्य (रहिय) रहित (महिला) स्त्री (परिसोहा) शोभा [और] (वेरग्गणाण) वैराग्य ज्ञान (संजम) संयम (हीणा) हीन (खवणा) मुनि (किं वि) कुछ भी (ण) नहीं (लब्भंते) पाते हैं।

अर्थ--शूरवीर शक्ति के विना, स्त्री सौभाग्य के विना [जिस प्रकार] शोभायमान नहीं होते हैं [उसी प्रकार] संयम, ज्ञान और वैराग्य के विना मुनीश्वर भी कुछ भी प्राप्त नही करते हैं।

वत्थु समग्गो मूढो लोहिय लहिए फलं जहा पच्छा।
अण्णाणी जो विसय परिचत्तो लहइ तहां चेव ॥७७॥

अन्वयार्थ--(जहा) जैसे (मूढो) मूर्ख (लोहिय) लोभी [पुरुष] (समग्गो) समग्र [सम्पूर्ण] (वत्थु) वस्तुओं को (लहिए) प्राप्त करता है (पच्छा) पश्चात् (फलं) फल [की अभिलाषा करता है] (तहा) वैसे (चेव) ही (जो) जो (अण्णाणी) अज्ञानी [और] (विसयपरिचत्तो) विषयों को त्यागने वाला [है वह] (लहइ) प्राप्त करता है।

अर्थ--जैसे मूर्ख लोभी पुरुष सम्पूर्ण वस्तुओं को प्राप्त करता है पश्चात् फल को भोग नही सकता है वैसे ही जो अज्ञानी और विषयों से रहित है वह फल को प्राप्त नहीं कर सकता है।

वत्थु समग्गो णाणी सुपत्तदाणी फलं जहा लहइ।
णाण समग्गो विसयपरिचत्तो लहइ तहा चेव ॥७८॥

अन्वयार्थ--(जहा) जैसे (णाणी) ज्ञानी [पुरुष] (समग्गो) सम्पू

(वत्थु) वस्तु (सुपत्तदाणी) सुपात्र में दान देने वाला दानी (फलं) फल को (लहइ) प्राप्त करता है (तहा) वैसे (चेव) ही (विसयपरिचत्तो) विषयों को त्यागने वाला (सनग्गो) सम्पूर्ण (णाण) ज्ञान [के फल को] (लहइ) प्राप्त करता है।

अर्थ—जैसे ज्ञानी मनुष्य वस्तुओं का संग्रह कर लेने पर भी सुपात्र में दान देकर उसके फल को प्राप्त कर लेता है, वैसे ही ज्ञानी पुरुष विषयों का परित्याग कर सम्पूर्ण ज्ञान का फल प्राप्त कर लेता है।

विषय—विषयज्ञेय को कहते हैं (स. सि. रा. वा.) (गो. जी. मू./४७९/८८५)—पांच रस, पांच वर्ण, दो गन्ध, आठ स्पर्श और सात स्वर ऐसे यह २७ भेद तो पांचों इन्द्रियों के हैं और एक भेद मन का अनेक विकल्प रूप विषय है। ऐसे कुल विषय २८ हैं।

भूमहिला कणयाइ लोहाहि विसहरं कहं पि हवे।
सम्मत्तणाण वेरग्गो सहमंतेण जिणुद्दिट्ठं ॥७९॥

अन्वयार्थ—(भू) जमीन (महिला) स्त्री (कणयाइ) स्वर्ण आदि के (लोहाहि) लोभ रूपी सर्प [और] (विसहरं) विषधर सर्प को (कहं पि हवे) चाहे वह सर्प कैसा ही हो (सम्मत्तणाण) सम्यक्त्व ज्ञान (वेरग्गो सहमंतेण) वैराग्य रूपी औषधि और मंत्र से वश में किया जा सकता है (जिणुद्दिट्ठं) ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

अर्थ—लोभ रूपी (सर्प) के विष को नाश चाहे वह कैसा ही हो सम्यक्त्व ज्ञान, वैराग्य रूपी औषध और मंत्र से वश में किया जा सकता है ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

पुव्वं जो पंचेंदिय तणुमणुवचि हत्थपाय मुंड़ाउ।
पच्छा सिरमुंडाउ सिवगइ पहणायगो होइ ॥८०॥

अन्वयार्थ--(जो) जो [साधु] (पुव्वं) पहले (पंचेंदिय) पांच इन्द्रियों (तणु-मणु-वचि) शरीर, मन, वचन (हत्थपाय) हाथ-पांव को (मुंडाइ) मुंडाता है (पच्छा) बाद में (सिरमुंडाइ) सिर मुंडाता है [केशलोंच करता है, वह] (सिवगइ) मोक्ष मार्ग का (पहणायगो) प्रधान नायक होता है।

अर्थ--जो साधु पहले पांच इन्द्रियों, मन-वचन-काय, हाथ-पांव को वश में कर लेता है, बाद में केशलोंच करता है तो वह मोक्ष मार्ग का नेता होता है अथवा वह शीघ्र शिवगति याने मुक्ति को प्राप्त होता है।

पत्तिभत्तिविहीण सदी भिच्चोय जिण समय भत्ति हीण जइणो।
गुरुभत्तिविहीण सिस्सो दुग्गइ मग्गाणु लग्गणो णियमा ॥८१॥

अन्वयार्थ--(पतिभत्ति) पति की भक्ति (विहीण) रहित (सदी) सती, [पतिव्रता] (य) और (भिच्चो) स्वामी भक्ति रहित भृत्य (जिणसमय) जिनागम या श्रुत जिनवाणी (भत्ति) भक्ति (हीण) रहित (जईणो) जैन तथा (गुरुभत्ति विहीण) गुरु भक्ति से रहित (सिस्सो) शिष्य (णियमा) नियम से (दुग्गई) दुर्गति के (मग्गाणु लग्गणो) मार्ग में लगे हुए हैं।

अर्थ--पति की भक्ति रहित स्त्री, स्वामी की भक्ति रहित सेवक, श्रुत (शास्त्र या जिनवाणी) की भक्ति रहित जैन और गुरू की भक्ति से रहित शिष्य नियम से दुर्गति के पात्र हैं।

गुरुभत्ति विहीणाणं सिस्साणं सव्वसंग विरदाणं।
ऊसरछेत्ते वविय सुवीयसमं जाणसव्वणुट्ठाणं ॥८२॥

अन्वयार्थ--(गुरुभत्ति) गुरु [की] भक्ति [से] (विहीणाणं) विहीन

(सिस्साणं) शिष्यों के (सव्वसंग) सर्व परिग्रह से (विरदाणं) विरत [होने पर भी] (सव्वणुट्ठाणं) सव अनुष्ठान [जप, तप, आदि] (ऊसरछेत्ते) ऊसर खेत में (ववियं) वोये हुए (सुबीअसमं) उत्तम वीज समान (जाण) जानो।

अर्थ—सर्व प्रकार के वाह्य और आभ्यंतर परिग्रह से रहित [होने पर भी] शिष्य यतीश्वरों में गुरु [श्री आचार्य परमेष्ठी] की भक्ति नहीं है तो उनकी सर्व क्रियाएं ऊपर भूमि में वोये अच्छे उत्तम वीज के समान व्यर्थ हैं।

१० वाह्य परिग्रह—क्षेत्र, वास्तु हिरण्य, सुवर्ण, धन-धान्य, दासी, दास, कुप्य और भांड ये १० प्रकार के वाह्य परिग्रह हैं।

१४ अन्तरङ्ग परिग्रह—(१) मिथ्यात्व (२) अनन्तानुवन्धी क्रोध (३) मान (४) माया (५) लोभ (६) हास्य (७) रति (८) अरति (९) शोक (१०) भय (११) जुगुप्सा (१२) स्त्री वेद (१३) पुरुष वेद और (१४) नपुंसक वेद।

रज्जं पहाणहीणं पतिहीणं देशगामरट्ठ वलं ॥
गुरुभत्ति हीण सिस्साणुट्ठाणं णस्सदे सव्वं ॥८३॥

अन्वयार्थ—(पहाणहीणं) प्रधान [राजा] हीन (रज्जं) राज्य (पतिहीणं) पति [स्वामी से] हीन (देसगामरट्ठबलं) देश, ग्राम, राष्ट्र (और) सेना (गुरुभत्ति) गुरुभक्ति (हीण) हीन (सिस्साणुट्ठाणं) शिष्यों (के) अनुष्ठान (सव्वं) सब (णस्सदे) नष्ट हो जाते [हैं]।

अर्थ—जिस प्रकार राजा के विना राज्य और स्वामी के विना देश, ग्राम, सम्पत्ति, सैन्य वल आदि सारी विभूति निरूपयोगी है व्यर्थ है उसी प्रकार गुरु की भक्ति से रहित शिष्यगणों के सभी आचरण [जप-तपादि] निष्फल हैं।

सम्माण विण रूई भत्तिविणा दाण दया विणा धम्मं।
गुरुभत्ति विणा तह तव चरियं णिपफलं जाण ॥८४॥

अन्वयार्थ--(जैसे) (सम्माण) सन्मान [आदर भावके] (विण) विना (रूई) रुचि [प्रेम] (भत्तिविणा) भक्ति विना (दाणं) दान (दयाविणा) दया विना (धम्मं) धर्म [और] (वह) वैसे (तह) वैसे (गुरुभत्ति) गुरु भक्ति (विणा) विना (तव)तप (गुण) गुण (चरितं) चारित्र (णिपफलं) निष्फल (जाण) जानो।

अर्थ--जैसे सम्मान के विनारुचि नहीं होती है, भक्ति के विना दान नहीं दिया जाता और, दया के विना धर्म नही होता वैसे ही गुरु भक्ति के विना तप-गुण-चारित्र निष्फल जानो।

हाणादाण वियार विहीणादो वाहिरक्खसुक्खं हि।
किं तजियं किं भजियं किं मोक्खु सुहं जिणुदिट्ठं ॥८५॥

अन्वयार्थ—(हाणादाण) त्याज्य और ग्राह्य (वियार) विचार से (विहीणादो) विहीन होने से (हि) निश्चय (वाहिरक्खसुक्खं) बाह्य इन्द्रिय सुख को [मानने वाले] (किं) क्या (तजियं) त्याज्य (है) (किं) क्या (भजियं) ग्राह्य है (किं) क्या (मोक्खु) मोक्ष है (णदिट्ठं) नहीं जाना (जिणुदिट्ठं) जिनेन्द्र देव ने कहा (है)।

अर्थ—हेय उपादेय के ज्ञान के विना निश्चय से बाह्य इन्द्रिय सुख को मानने वाले (जीव) क्या ग्राह्य है और क्या त्याज्य है तथा मोक्ष क्या है ? समझ नहीं पाते आत्मदर्शी जिनेन्द्र देव ने [ऐसा]कहा है।

कायकलेसुववासं दुद्धरतवयरण कारणं जाण।
तं णिय सुद्धसरूवं परिपुण्णं चेदि कम्मणिम्मूलं ॥८६॥

अन्वयार्थ—(कायकिलेसुववासं) कायक्लेश और उपवास (दुद्धर) दुर्धर [कठोर] (तवयरण) तपश्चरण के (कारणं) कारण (जाण) जानो (च) और (तं) वे (परिपुण्णं) परिपूर्ण (णिय) अपने (सुद्धसरूवं) शुद्ध

स्वरुप का होना (कम्मणिम्मूलं) कर्म निर्मूलन का (कारणं) कारण [है] (इति) ऐसा (जाण) जानो।

अर्थ—कायक्लेश और उपवास दुर्धर तपश्चरण के कारण है तो परिपूर्ण रूप से निज शुद्ध स्वरूप में लीन होना कर्मक्षय का कारण है।

कम्मु ण खवेइ जोहु परवम्हण जाणेइ सम्मउमुक्को।
अत्थु ण तत्थु ण जीवो लिंगं घेत्तूण किं करई ॥८७॥

अन्वयार्थ—(हु) निश्चय से (जो) जो (सम्मउमुक्को) सम्यक्त्व से रहित है (परवम्ह) परमब्रम्ह [आत्मा] (ण) नहीं (जाणेइ) जानता है [वह] (अत्थु ण) यहां नहीं (तत्थु ण) वहां नहीं है (कम्मुं) कर्म का (ण) नहीं (खवेइ) क्षय करता है [वह] (लिंगं) वेश को (घेत्तूण) ग्रहण कर (किं) क्या (करइ) करता (है)।

अर्थ--जो जीव परब्रम्ह परमात्मा को नही जानता है, जो सम्यग्दर्शन से रहित है। वह जीव न तो गृहस्थ अवस्था में है और न साधु अवस्था में है केवल लिंग को धारण कर क्या करते हैं। सम्यक्त्व पूर्वक जिनलिङ्ग धारण करने से ही कर्मों का नाश होता है।

अप्पाणं पि ण पिच्छइ ण मुणइ ण वि सद्दहइ ण भावेइ।
वहु दुक्ख भारमूलं लिंगं घेत्तूण किं करई ॥८८॥

अन्वयार्थ—[यदि साधू (अप्पाणं) आत्मा को (पि) भी (ण) नहीं (पिच्छइ) देखता है (ण) नहीं (मुणइ) मनन करता (ण वि) ना ही (सद्दहइ) श्रद्धान करता है और (ण) नहीं (भावेइ) भाता [है तो] (वहुदुक्खभार) अत्यन्त दुख के भार (मूलं) कारण (लिंगं) वेश को (घेत्तूण) धारण कर (किं) क्या (करई) करता है।

अर्थ—जो अपनी आत्मा को नहीं देखता है, न जानता है, न आत्मा का

श्रद्धान करता है और न ही आत्मा के स्वरूप में अपने भावों को लगाता है। वह वहुत दुक्खों का कारणभूत [ऐसी] साधु अवस्था को धारण कर क्या लाभ लेता है ? [वहुत से दुखभार का कारण-स्वरूप बाह्यवेश धारण करने से कोई लाभ नहीं है]।

जाव ण जाणइ अप्पा अप्पाणं दुक्खमप्पणो तावं।
तेण अणंत सुहाणं अप्पाण भावए जोई ॥८९॥

अन्वयार्थ –(जाव) जब तक (अप्पा) आत्मा (अप्पाणं) अपने आपको (ण) नहीं (जाणइ) जानता है, (ताव) तब तक (अप्पणो) आत्मा [का] (दुक्ख) दुःख (प्रतीत नहीं होता), (तेण) इसलिये (जोई) योगी [मुनि] (अणंत) अनन्त (सुहाणं) सुख [से युक्त] (अप्पाणं) आत्मा का (भावए) चिन्तन करता है।

अर्थ—जब तक यह आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप, टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वरूप अतीन्द्रिय आनन्द को नहीं जानता, तब तक उसे आत्मा का दुःख प्रतीत नहीं होता इसलिए योगी [सदैव] अनन्त सुख से युक्त आत्मा का चिन्तन करता है।

णियतच्चुवलद्धि विणा सम्मतुवलद्धि णत्थि णियमेण।
सम्मतुवलद्धि विणा णिव्वाणं णत्थि जिणुदिट्ठं ॥९०॥

अन्वयार्थ—(णिय) निज (तच्चुवलद्धि) तत्वोपलब्धि (विणा) विना (णियमेथ) नियम से (सम्मत्तुवलद्धि) सम्यक्त्व प्राप्ति (विणा) विना [सम्यक्त्व प्राप्ति] (णियमेण) नियम से (णिव्वाणं) निर्वाण (णत्थि) नहीं होता है [ऐसा] (जिणुद्दिट्ठं) जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

अर्थ—अपने आत्म स्वरूप की प्राप्ति के विना सम्यक्त्व की प्राप्ति नियम से नही होती है और सम्यक्त्व की प्राप्ति के विना नियम से निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती है ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

पवयणसारब्भासं परमप्पज्झाणकारण जाण।
कम्मक्खवणणिमित्तं कम्मक्खवणेहि मोक्खसोक्खं हि ।।९१।।

अन्वयार्थ--(**पवयणसारब्भासं**) प्रवचनसार/आत्मा के शुद्ध स्वरुप का अभ्यास (**परमप्पज्झाणकारणं**) परमात्मा के ध्यान का कारण है (**जाण**) ऐसा जानो। परमात्मा का ध्यान (**कम्मक्खवणणिमित्तं**) कर्मक्षय का कारण है (**कम्मक्खवणे**) कर्म-क्षय होने पर (**हि**) निश्चय से (**मोक्ख-सोक्खं**) मोक्ष सुख मिलता है।

अर्थ—आत्मा के शुद्ध स्वरूप का अभ्यास ही परब्रम्ह परमात्मा के ध्यान का कारण है। विशुद्ध आत्मा के स्वरूप का ध्यान ही कर्मों के नाश व मोक्षसुख की प्राप्ति के लिए प्रधान कारण है ऐसा जानो।

सालविहीणो राउ दाणदया धम्मरहिय गिह सोहा।
णाण विहीण तवोवि य जीवविणा देहसोहा णो ।।९२।।

अन्वयार्थ—(**साल**) दुर्ग (**विहीणो**) विना (**राउ**) राजा (**दाण**) दान (**दया**) दया (**धम्म**) धर्म (**रहिय**) रहित (**गिह**) गृहस्थ की (**सोह**) शोभा (**णो**) नहीं होती (**य**) और (**णाण**) ज्ञान (**विहीण**) रहित (**तवो**) तप की (**वि**) भी [तथा] (**जीव**) जीव (**विणा**) विना (**देह**) शरीर की (**सोहा**) शोभा (**णो**) नहीं होती है।

अर्थ—जैसे दुर्ग के विना राजा की शोभा, दान, दया, धर्म के विना गृहस्थ की शोभा, जीव के विना मृतक शरीर की शोभा विफल है वैसे ही ज्ञान के विना तप की शोभा भी विफल [ज्ञान के विना तप की शोभा नहीं]।

मक्खि सिलिम्मे पडिओ मुवइ जहा तह परिग्गहे पडिउ।
लोही मूढो खवणो कायकिलेसेसु अण्णाणी ।।९३।।

अन्वयार्थ— (**जहा**) जैसे (**सिलिम्मे**) श्लेष्मा में (**पडिओ**) पड़ी

हुई (मक्खि) मक्खी (मुवइ) मर जाती है (तइ) वैसे [ही] (परिग्गहे) परिग्रह में (आसक्ति में) (पडिउ) पड़ा हुआ (लोही) लोभी (मूढो) मूर्ख (अण्णाणी) अज्ञानी (खवणो) क्षपक [साधू] (कायकिलेसेसु) शारीरिक कष्टों में [जीवन खो देते हैं]

अर्थ—जिस प्रकार मक्खी श्लेष्मा (कफ) में पड़कर तत्काल मर जाती है उसी प्रकार परिग्रह के लोभ में पड़कर लोभी अज्ञानी क्षपक [साधु] शारीरिक क्लेश मात्र को प्राप्त होते हैं [कर्मों का नाश नहीं कर सकते है]।

णाणब्भासविहीणो सपरं तच्चं ण जाणए किं पि।
झाणं तस्स ण होइ हु जाव ण कम्मं खवेइ ण हु मोक्खं ॥९४॥

अन्वयार्थ—(णाणब्भास) ज्ञानाभ्यास (विहीणो) विहीन जीव (सपरं) स्व आत्मा और पर याने अन्य द्रव्य (तच्चं) तत्व को (किं) कुछ (वि) भी (ण) नहीं (जाणए) जानता (तस्स) उसके (झाणं) ध्यान (हु) भी (ण) नहीं (होइ) होता है और (जाव) जब तक (कम्मं) कर्म को (ण) नहीं (खवेइ) नष्ट करता है [तब तक] (मोक्खं) मोक्ष (ण हु) नहीं ही [होता]।

अर्थ—सम्यक् ज्ञान के अभ्यास बिना यह जीव भेद विज्ञान को प्राप्त नहीं कर पाता है अर्थात् स्व-पर स्वात्मतत्व एवं परद्रव्यों को सर्वथा नहीं जानता। स्व-पर ज्ञान के बिना ध्यान नहीं होता, सम्यक् ध्यान के बिना कर्मों का क्षय नहीं होता है और जब तक कर्मों का क्षय नहीं होता है [तब तक] मोक्ष की प्राप्ति कभी भी नहीं होती है [अतः सम्यग्ज्ञान का अभ्यास सतत करना चाहिये]।

अज्झयणमेव झाणं पंचेदियणिग्गहं कसायं पि।
तत्तो पंचमयाले पवयणसारब्भासमेव कुज्जा हो ॥९५॥

अन्वयार्थ—(पंचमयाले) पंचम [वर्तमान] काल में (अज्झयणमेव) अध्ययन ही (झाणं) ध्यान है [जिनागम के अभ्यास से] (पंचेदिय) पन्चे-

न्द्रियों का (णिग्गह) निग्रह (कसायं) कषाय का (पि) भी [निग्रह होता है (तत्तो) इस कारण से (हो) अहो ! (पंचमयाले) वर्तमान काल में (पवय-णसारब्भासमेव) प्रवचनसार का अभ्यास ही (कुज्जा) करें।

अर्थ—पंचमकाल में जिनागम का अभ्यास [पठन-पाठन, चिन्तन-मनन] ही ध्यान है। जिनागम के अभ्यास से ही इन्द्रियों का निग्रह और कषायों का भी शमन होता है। इस कारण अहो ! इस पन्चमकाल में एक मात्र जिनागम का अभ्यास ही करें।

धम्मज्झाणब्भासं करेइ तिविहेण जाव सुद्धेण।
परमप्पझाणचेतो तेणेव खवेइ कम्माणि ॥९६॥

अन्वयार्थ—(जाव) जो (तिविहेण) तीन प्रकार [की] (सुद्धेण) शुद्धता से (धम्मज्झाणब्भासं) धर्मध्यान का अभ्यास (करेइ) करता है (तेणेव) उसके ही (परमप्पझाणचेतो) परमात्मा के ध्यान रूप आत्मा की विशुद्धि में स्थिति (कम्माणि) कर्मों का (खवेइ) क्षय होता है।

अर्थ जो मन-वचन-काय की विशुद्धिता से धर्मध्यान का अभ्यास करता है उसके ही परमात्मा के ध्यान की विशुद्धता से कर्मों का क्षय होता है।

पावारंभणिवित्ती पुण्णारंभे पउत्ति करणं पि।
णाणं धम्मज्झाणं जिणभणियं सव्वजीवाणं ॥९७॥

अन्वयार्थ—(पावारंभणिवित्ती) हिंसादि पाप कार्यों से निवृत्त [होकर] (पुण्णारंभे) पुण्य के कार्यों में (पउत्ति) प्रवृत्ति (करणं) करना (पि) भी (णाणं) सम्यग्ज्ञान [और] (धम्मज्झाणं) धर्मध्यान को (सव्व-जीवाणं) सब जीवों के लिये [मुक्ति का कारण] (जिणभणियं) जिनेन्द्र देव ने कहा है।

अर्थ—हिंसा, झूंठ, चोरी, कुशील, परिग्रह पांच पापों का त्यागकर पुण्य

कार्यों [दान-पूजा-भक्ति-स्तुति-वन्दना आदि] में प्रवृत्ति करना भी सम्यग्ज्ञान और धर्म्यध्यान सब जीवों के लिए [मुक्ति का कारण] जिनदेव ने कहा है।

सुदणाणब्भासं जो ण कुणइ सम्मं ण होइ तवयणं।
कुव्वंतो मूढमई संसार सुहाणुरत्तो सो ॥९८॥

अन्वयार्थ—(जो) जो (सुदणाणब्भासं) श्रुत [शास्त्र] का ज्ञानाभ्यास (ण) नहीं (कुणइ) करता है [उसके] (तवयरण) तपश्चरण (सम्मं) सम्यक् [ठीक से] ण नहीं होता है (सो) वह (मूढमई) मूढ़ बुद्धि (कुव्वंतो) [तपश्चरण] करता हुआ (संसारसुहाणुरत्तो) संसार सुख में अनुरक्त है।

अर्थ––जो मुनि निरन्तर जिनागम का अच्छी तरह अभ्यास नहीं करता उसका तपश्चरण विशुद्ध, समीचीन नहीं होता है, वह अज्ञानी मूढ बुद्धि तपश्चरण करता हुआ भी संसार सुख में अनुरक्त है। [आगमाभ्यास के विना तप मुक्ति का कारण नहीं हो सकता]।

तच्चवियारणसीलो मोक्खपहाराहणासहावजुदो।
अणवरयं धम्मकहा पसंगओ होइ मुणिराओ ॥९९॥

अन्वयार्थ—(तच्च) तत्व (वियारणसीलो) विचारणा स्वभाव वाले (मोक्खपह) मोक्षपथ [की] (आराहणा) आराधना (सहाव) स्वभाव (जुदो) युक्त [तथा] (अणवरयं) सतत (धम्मकहा) धर्मकथा (पसंगओ) सम्बन्ध सहित (मुणिराओ) मुनिराज (होइ) होते हैं।

अर्थ– निरन्तर तत्व चिन्तन, मनन स्वभाव वाले, मोक्ष मार्ग की आराधना के स्वभाव से युक्त, निरन्तर धर्मकथा प्रसंग सहित मुनिराज होते है।

मोक्षमार्ग की ४ आराधनाएं हैं––१–सम्यक् दर्शन २–साम्यक् ज्ञान ३–सम्यक् चारित्र ४–सम्यक् तप।

विकहाइविप्पमुक्को आहाकम्माइ विरहिओ णाणी।
धम्मुद्देसणकुसलो अणुपेहा भावणाजुदो जोई ॥१००॥

अन्वयार्थ—(जो) (विकहाइ) विकथादि से (विप्पमुक्को) पूर्ण मुक्त हैं (आहाकम्माइ) अधः कर्मादि [दोषों से] (विरहिओ) रहित है (धम्मुद्देसण) धर्मोपदेश देने में (कुसलो) कुशल [तथा] (अणुपेहा) अनुप्रेक्षा (भावणाजुदो) भावना से युक्त हैं [वह] (णाणो) ज्ञानी (जोई) योगी हैं।

अर्थ—विकथा आदि निन्द्य वचनों को कभी नहीं कहने वाले, अधः कर्मादि कर्म मे उत्पन्न दोषों से रहित चर्या करने वाले अनवरत धर्म का उपदेश करने में कुशल तथा सतत बारह भावनाओं के द्वारा तत्वस्वरुप चिन्तन करने वाले ज्ञानी जिनलिंग धारक [मुमुक्ष] यतीश्वर होते हैं।

४ विकथा—(१) राजकथा (२) चोर कथा (३) भोजन कथा और (४) अवनिपाल कथा।

अवियप्पो णिद्दंदो णिम्मोहो णिक्कलंकओ णियदो।
णिम्मलसहाव जुत्तो जोई सो होई मुणिराओ ॥१०१॥

अन्वयार्थ—[जो) (जोई) योगी (अवियप्पो) विकल्पों से रहित (णिद्दंदो) निर्द्वन्द (णिम्मोहो) निर्मोही (णिक्कलंकओ) निष्कलंक (णियदो) स्थिर हैं (णिम्मलसहाव) निर्मल स्वभाव (जुत्तो) युक्त हैं (सो) वह (मुणिराओ) मुनिनाथ (होइ) होते हैं।

अर्थ--जो योगी शुभाशुभ विकल्पों से रहित है, राग-द्वेप रूप द्वन्द से रहित निर्मोही, अप्ट कर्म रूप कलङ्कों से रहित निष्कलङ्क, जिने जो अपने आत्म-स्वभाव में स्थिर. निर्मल स्वभाव से युक्त होता है वही मुनिनाथ है।

णिदावंचणदूरो परीसहउवसग्गदुक्ख सहमाणो।
सुहझाणज्झयणरदो गयसंगो होइ मुणिराओ ॥१०२॥

अन्वयार्थ—(जो) जो (णिंदा) निन्दा (वंचण) वंचना (दूसरों को ठगना) से दूर हैं (परीसह) परीषह (उवसग्ग) उपसर्ग (दुःख) दुख (सहमाणो) सहनशील हैं और (सुह) शुभ (झाणज्झयण) ध्यान-अध्ययन में (रदो) रत (लीन) गयसंगो परिग्रह विहिन (हैं वह) (मुणि-राओ) मुनिनाथ (होइ) होते हैं।

अर्थ—जो निंदादिक गर्हित वचनों से रहित वचन गुप्ति के प्रतिपालक हैं, परिषह और उपसर्ग के भयंकर दुःख को सहन करने वाले साम्यभाव के धारक शुभध्यान और जिनागम के अध्ययन में तत्पर, चौबीस प्रकार के परिग्रह से सर्वथा रहित नग्न दिगम्बर हैं वे ही यतीश्वर होते हैं।

तिव्वं कायकिलेसं कुव्वंतो मिच्छ भावसंजुत्तो।
सव्वण्णुवएसे सो णिव्वाणसुखं ण गच्छेई ॥१०३॥

अन्वयार्थ -(जो) तिव्वं-तीव्र (कायकिलेसं) कायक्लेश को (कुव्यंतो) करता हुआ भी (मिच्छभाव) मिथ्यात्व भाव से (संजुतो) संयुक्त है (सो) वह (णिव्वाणसुहं) निर्वाणसुख को (ण) नहीं (गच्छेइ) प्राप्त करता है यह (सव्वण्णुवएसे) सर्वज्ञ (का) उपदेश (है)।

अर्थ—जो घोर तप कायक्लेशादि करता हुआ भी मिथ्यात्वभाव से संयुक्त है वह निर्वाणसुख को प्राप्त नहीं करता यह सर्वज्ञ का उपदेश है।

रायाइमलजुदाणं णियप्परूवं ण दिस्सये किं पि।
समलादरिसे रूवं ण दिस्सए जह तहा णेयं ॥१०४॥

अन्वयार्थ—(रायाइ) रागादि (मलजुदाणं) मल युक्त (जीवों को) (णिय) अपना (अप्परूवं) आत्म स्वरूप (किं) कुछ (पि) भी (ण) नहीं (दिस्सए) दिखलाई देना (जह) जैसे (समल) मल सहित (आदरिसे) दर्पण में (रूवं) रूप (ण) नहीं (दिस्सए) दिखाई देता, (तहा) वैसे ही (णेयं) समझना चाहिये।

अर्थ—जिस प्रकार मलिन दर्पण में अपना यथार्थ रूप दिखाई नहीं देता है उसी प्रकार जिनका आत्मा राग-द्वेष आदि दोषों से मलिन हो रहा है उस मलिन आत्मा में आत्म-स्वरूप थोड़ा भी दिखाई नहीं देता।

दंडत्तय सल्लत्तय मंडियमाणो असूयगो साहू।
भंडणजायणसीलो हिंडइ सो दीहसंसारे ॥१०५॥

अन्वयार्थ—(जो) (दंडत्तय) तीन दंड (मन-वचन-काय को वश में नहीं रखने वाले) (सल्लत्तय) तीन शल्य [माया-मिथ्या-निदान] (से) (मंडियमाणो) शोभायमान (असूयगो) ईर्ष्यावान् (भंडण) कलह (जायणसीलो) याचनाशील (साहू) साधु हैं (सो) वह (दीह) दीर्घ (संसारे) संसारे में (हिंडइ) घूमते (हैं)।

अर्थ—जो साधु अपने मन-वचन और काय को अपने वश में नहीं रखते, माया मिथ्यात्व-निदान तीनों शल्यों से शोभायमान है दूसरों से ईर्ष्या करते है, लड़ाई झगड़ा करते हैं याचना करते है। वे साधु इस संसार में दीर्घ काल तक परिभ्रमण करते है।

देहादिसु अणुरत्ता विसयासत्ता कसायसंजुता।
अप्पसहावे सुत्ता ते साहू सम्मपरिचत्ता ॥१०६॥

अन्वयार्थ—(जो मुनि) (देहादिसु) शरीर आदि में (अणुरत्ता) अनुरक्त (विसयासत्ता) विषयासक्त (कसाय) कषाय (से) (संजुत्ता) संयुक्त (और) (अप्पसहावे) आत्म स्वभाव में (सुत्ता) सुप्त (बेखबर हैं) (ते) वे (साहू) साधु (सम्म) सम्यक्त्व से (परिचत्ता) परित्यक्त (है)।

अर्थ—जो मुनि संसार शरीर भोगादि में अनुरक्त हैं, पन्चेन्द्रिय विषयों में आसक्त है, क्रोध, मान, माया और लोभ से संयुक्त है (और) आत्म स्वभाव मे बेखबर रहते हैं इन साधु को सम्यक्त्व रहित मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये।

आरंभे धणधण्णे उवयरणे कंखिया तहा सूया ।
वयगुणसीलविहीणा कसायकलहप्पिया मुहरा ॥१०७॥

संघविरोह कुसीला सच्छंदा रहिय गुरुकुला मूढा ।
रायाईसेवाया ते जिणधम्म विराहिया साहू ॥१०८॥

अन्वयार्थ—(आरंभे) आरम्भ (व्यापार) में (धणधण्णे) धन-धान्य में (तथा) (उववरणे) उपकरण में (कंखिया) कांक्षा रखने वाले (तहा) तथा (सूया) ईर्ष्यालु (वयगुणसील) व्रत, गुण, शील से (विहीणा) विहीन (कसाय) कषाय (कलहप्पिया) कलहप्रिय (मुहरा) मुखर (संघ) संघ (विरोह) विरोध (कुसीला) कुशील (सच्छंद) स्वच्छन्द (गुरुकुलारहिय) गुरु संघ से रहित (गुरु के समीप नहीं रहते या गुरु के अधीन नहीं रहते) (मूढा) अज्ञानी (रायादिसेवाया) राजा आदि की सेवा करते हैं (ते) वे (साहू) साधु (जिणधम्मविराहिया) जिनधर्म के विरोधी हैं ।

अर्थ—जो मुनि होकर भी व्यापारादि आरम्भ में, धन-धान्य तथा उपकरण में कांक्षा रखने वाले तथा ईर्ष्यालु, व्रत, गुण, शील से रहित, कषाय एवं कलहप्रिय, वाचाल, [बहुत बोलते हैं] [जो] संघ से विरोध करने का जिनका स्वभाव है, जो गुरु के अधीन नहीं रहकर स्वच्छंद (स्वतंत्र) रहते हैं, गुरु के समीप नहीं रहते अथवा गुरु की आज्ञानुसार नहीं चलते हैं (तथा) राजादि की सेवा करते हैं उन साधुओं को जिनधर्म के विरोधी समझना चाहिये ।

जोइसवेज्जामंतोवजीवणं वायवस्स ववहारं ।
धणधण्णपडिग्गहणं समणाणं दूसणं होइ ॥१०९ ॥

अन्वयार्थ—(जोइस) ज्योतिष (वेज्जा) विद्या (मंतोवजीवणं) मन्त्र (विद्याद्वारा) आजीविका (चलाना) (वायवस्स) वात-विकार का (भूत-प्रेत का) (ववहारं) व्यवहार (व्यापार कर) (धण-धण्णं) धन-धान्य (पडिग्गहणं) ग्रहण करना (समणाणं) श्रमणों के (साधुओं के) (दूसणं) दोष (होइ) होते हैं ।

अर्थ—ज्योतिष, विद्या, मन्त्र आदि के द्वारा आजीविका चलाना तथा भूत-प्रेत का व्यापार करना तथा धन-धान्यादि ग्रहण करना। ये सब साधुओं के दोष होते हैं।

जे पावारंभरया कसायजुत्ता परिग्गहासत्ता।
लोयववहार पउरा ते साहू सम्मउम्मुक्का ॥११०॥

अन्वयार्थ—(जे) जो (साहू) साधु (पावारंभरया) पाप आरम्भ में रत (हैं) (कसायजुत्ता) कषाय से सहित हैं (परिग्गहासत्ता) परिग्रह में आसक्त हैं (लोयववहारपउरा) लोक व्यवहार में चतुर हैं (ते) वे (सम्म) सम्यक्त्व से (उम्मुक्का) रहित हैं।

अर्थ—जो साधु पापरूप आरंभ के कार्यों में लीन रहते हैं, कषाय सहित हैं परिग्रह में आसक्त तथा लोक व्यवहार में सदा लगे रहते हैं वे साधु सम्यक्त्व से रहित है।

चम्मट्ठिमंसलवलुद्धो सुणहो गज्जए मुणि दिट्ठा।
जह पाविट्ठो सो धम्मिट्ठं दिट्ठा सगीयट्ठा ॥१११॥

अन्वयार्थ—(जह) जैसे (चमट्ठिमंस) चर्म, अस्थि मांस के (लव) टुकड़े का (लुद्धो) लोभी (सुणहो) श्वान (मुणि) मुनि को (दिट्ठा) देखकर (गज्जए) भोंकता है (वैसे हो) (जो) (पाविट्ठो) पापीष्ठ है (सो) वह (धम्मिट्ठ) धर्मस्थित धर्मात्मा को (दिट्ठा) देखकर (सगीयट्ठा) स्वार्थ (अपना मतलब) सिद्ध करता है।

अर्थ—जिस प्रकार चाम, हड्डी, मांस के खंड का लोभी श्वान (कुत्ता) मुनि को देखकर भोंकता है। उसी प्रकार पापीजन धर्मात्मा को देखकर अपना स्वार्थ सिद्ध करता है।

ण सहंति इयरदप्पं थुवंति अप्पाणं अप्पमाहप्पं।
जिब्भणिमित्तं कुणंति ते साहू सम्म उम्मुक्का ॥११२॥

अन्वयार्थ--जो साधु (इयरदप्पं) दूसरे के वड़प्पन को (ण) नहीं (सहंति) सहन करते (अप्पाणं) अपने को (अप्पमाहप्पं) अपने माहात्म्य को (थुवंति) सराहते हैं (और) (जिब्भणिमित्तं) जिव्हा (स्वाद) के निमित्त (कुणंति) प्रयत्न करते हैं (ते) वे (साहू) साधु (सम्म) सम्यक्त्व से (उम्मुक्का) उन्मुक्त (हैं)।

अर्थ—जो मुनि दूसरे के वड़प्पन (ऐश्वर्यादि) को सहन नहीं करते, अपने आप अपनी महिमा प्रकट करते हैं और वह भी केवल जिव्हा इन्द्रिय के लिये अर्थात् जो उत्तम स्वादिष्ट भोजन प्राप्ति के लिये अपनी प्रशंसा करता है वह साधु सम्यक्त्व से रहित है।

भुंजेइ जहालाहं लहेइ जइणाणसंजमणिमित्तं।
झाणज्झयणणिमित्तं अणयारो मोक्खमग्गरओ ॥११३॥

अन्वयाथ—(जो) (जइ) यति (साधु) (जहा लाहं) यथा लाभ (जो कुछ प्राप्त होता है) (भुंजेइ) भोजन करता है (वह) (णाणसंजम) ज्ञान (और) संजम (णिमित्तं) हेतु (झाणज्झयण) ध्यान (और) अध्ययन (णिमित्तं) हेतू (लहेइ) ग्रहण करता है (वह) (मोक्खमग्गरओ) मोक्ष मार्ग में रत (अणयारो) अनगार (है)।

अर्थ--जो साधु ज्ञान और संयम की वृद्धि के लिए तथा ध्यान और अध्ययन के लिए जैसा भी शुद्ध आहार मिल गया (भोजन) ग्रहण करते हैं, वे मोक्ष-मार्ग में रत मुनि हैं।

उयरग्गिसमणमक्खमक्खणगोयार सुब्भपूरण भमरं।
णाऊण तप्पयारे णिच्चेवं भुंजए भिक्खू ॥११४॥

अन्वयार्थ--(उयरग्गिसमणं) उदराग्निशमन (अक्खमक्खण) अक्ष-म्रक्षण (गोयार) गोचरी (सुब्भपूरण) श्वभ्रपूरण (और) (भमरं) भ्रामरी

(और) (तप्पयारे) उसके प्रकारों को (णाऊण) जानकर (भिक्खू) साधु (णिच्चेवं) नित्य ही (भुञ्जदे) आहार ग्रहण करे।

अर्थ—उदराग्निशमन, अक्षम्रक्षण, गोचरी, श्वभ्रपूरण और भ्रामरी मुनि-चर्या के इन भेदों को जानकर साधु नित्य ही आहार ग्रहण करे।

मुनिचर्या (आहार ग्रहण विधि) विधि :—

१. **उदराग्नि शमन**—जितने आहार से क्षुधा वेदना (उदराग्नि) का शमन हो जाए उतना ही आहार लेना अधिक नहीं लेना उदराग्नि प्रशमन है।

२. **अक्षम्रक्षण**—जिस प्रकार गाड़ी को चलाने के लिए उसके पहियों की धुरी पर तेल डालते हैं क्योंकि बिना तेल के गाड़ी चल नहीं सकती, उसी प्रकार यह शरीर बिना आहार दिये चल नहीं सकता। इसलिए इस शरीर को मोक्ष तक पहुंचाने के लिए आहार देना अक्षम्रक्षण विधि है।

३ **गोचरी**–जिस गाय को चारा डालने पर, गाय की दृष्टि चारे पर रहती है। चारा डालने वाले की सुन्दरता या आभूषण अथवा गरीबी, अमीरी पर नहीं, उसी प्रकार मुनि की दृष्टि आहार पर रहती है, देने वाले के सौन्दर्य, आभूषण, गरीबी या अमीरी पर नही।

४. **श्वभ्रपूरण**—जैसे किसी गड्ढे को मिट्टी कूड़ा आदि चाहे जिससे भर देते हैं वैसे ही इस पेट रूपी गड्ढे को सरस–नीरस चाहे जैसे भी शुद्ध आहार से भर लेना।

५ **भ्रामरी**—जैसे भ्रमर फूलों को कष्ट न देते हुए रस ग्रहण करता है, ऐसे ही गृहस्थ को कष्ट न देते हुए आहार ग्रहण करता।

रसरुहिर मंसमेदट्ठिसुकिलमल मुत्तपूयकिमि वहुलं।
दुग्गंध मसुइ चम्ममयमणिच्चमचेयणं पडणं ॥११५॥

बहुदुक्खभायणं कम्मकारणं भिण्णमप्पणो देहो।
तं देहं धम्माणुट्ठाणकारणं चेदि पोसए भिक्खू ॥११६॥

अन्वयार्थ—(देदं) शरीर (रस) रस (रुधिर) रुधिर (मंस) मांस (मेद) मेदा (अट्ठि) अस्थि (सुक्किल) शुक्र (मल) मल (मुत्त) मूत्र (पूय) पीव (किमि) कीड़े (वहुलं) से भरा हुआ (दुग्गंधं) दुर्गन्धयुक्त (असुइ) अपवित्र (चम्मययं) चर्ममय (अणिच्चं) अनित्य (अचेदणं) अचेतन (पडणं) पतनशील (बहुदुक्ख भायणं) अनेक के दुक्खों का पात्र (कम्मकारणं) कर्मास्रव का कारण (अप्पणो) आत्मा से (भिण्णं) भिन्न है (तं) उस (देहं) शरीर को (धम्माणुट्ठाणकारणं) धर्मानुष्ठान का कारण है (चेदि) यह मानकर (भिक्खू) भिक्षु/साधु (पोसदे) पालन-पोषण करता है।

अर्थ—यह शरीर, रस, रुधिर, मांस, मेदा, अस्थि, शुक्र, मल, मूत्र, पीव और कीड़ों से भरा हुआ, दुर्गन्धियुक्त, अपवित्र, चर्ममय, अनित्य, अचेतन नाशवान, अनेक प्रकार के दुक्खों का पात्र, कर्मास्रव का कारण और आत्मा से भिन्न हैं (यह देह) धर्मानुष्ठान का कारण हैं, यह मानकर साधु उस देह का पालन पोषण करता है।

कोहेण य कलहेण य जायणसीलेण संकिलेसेण।
रुद्देण य रोसेण य भुंजइ किं वितरो भिक्खू ॥११७॥

अन्वयार्थ—जो साधु (कोहेण य) क्रोध से (कलहेण य) कलह से (जायणसीलेण) याचना करके (संकिलेसेण) संक्लेश परिणामों से (रुद्देण य) रौद्र परिणामों से (रोसेण य) और रुष्ट होकर (भुञ्जइ) भोजन करता है, तो वह (किं) क्या (भिक्षु) साधू है। (वह तो) (वितरो) व्यन्तर है।

अर्थ—(जो साधु) क्रोध से, कलह से, याचना करके, संक्लेश परिणामों से और रौद्र परिणामों से और रुष्ट होकर आहार लेता है, वह क्या साधु है? वह तो व्यन्तर है।

दिव्वुत्तरणसरित्थं जाणिच्चाहो धरेइ जइ सुद्धो।
तत्तासपिंडसमं भिक्खू तुह पाणिगयपिंडं ॥११८॥

अन्वयार्थ—(अहो भिक्खू) हे मुने ! (जइ) यदि (तुह) तेरे (पाणिगयपिंडं) हाथ पर रखा हुआ आहार (तत्तायसपिंडसमं) तपे हुए लोहे के पिण्ड के समान (सुद्धो) शुद्ध है-तो उसे (दिव्वुत्तरण) दिव्य नौका (सरित्थ) समान (जाणिच्चा) जानकर (धरेइ) ग्रहण कर।

अर्थ—हे मुने ! यदि तेरे हाथ पर रखा हुआ आहार का पिण्ड तपाये हुए लोहे के पिण्ड के समान अत्यन्त शुद्ध है तो तू उसे नौका सदृश (संसार से पार कर देने वाला) समझकर ग्रहण कर।

संजमतव झाणज्झयण विणाणए गिण्हए पडिग्गहणं।
वच्चइ गिण्हइ भिक्खू ण सक्कदे वज्जिदुं दुक्खं ॥११६॥

अन्वयार्थ—(भिक्खू) साध (संजम) संयम (तव) तप (झाणज्झयण) ध्यान-अध्ययन (विणाणए) विज्ञान के लिए (पडिग्गहणं) प्रतिग्रहण/आहार (गिण्हए) ग्रहण करता है। वह यदि (वच्चइ) इन कारणों को छोड़ता है और (गिण्हए) शरीर की पुष्टि के लिए आहार ग्रहण करता है तो वह *(दुक्खं) दुक्ख को (वज्जिदुं) छोड़ने के लिए (सक्कदे) समर्थ (ण) नहीं है।*

अर्थ—साधु संयम और तप की वृद्धि के लिए, ध्यान सिद्धि और शास्त्राभ्यास करने के लिए प्रतिग्रह (आहार स्वीकार करने की प्रार्थना) स्वीकार करते हैं। जो साधु इन कारणों को छोड़कर केवल शरीर को पुष्ट बनाने के लिए आहार लेते हैं। वे संसार के जन्म-मरण रूप दुखों से छूट नहीं सकते हैं।

अविरददेसमहव्वय आगमरुइणं वियारतच्चण्हं।
पत्तंतरं सहस्सं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥१२०॥

अन्वयार्थ—(जिणवरिंदेहिं) जिनेन्द्रदेव ने (अविरद) अविरत

सम्यग्दृष्टि (देस) देशव्रती श्रावक (महव्वय) महाव्रती मुनि (आगमरुइणं) आगम से रुचि रखने वाले और (वियारतच्चण्हं) तत्वविचारकों के भेद से (सहस्सं) सहस्र (पत्तंतरं) पत्रान्तर-पात भेद (णिद्दिट्ठ) कहे हैं।

अर्थ--अविरत सम्यग्दृष्टि, देशव्रती श्रावक, महाव्रती मुनि, आगम में रुचि रखने वाले और तत्वविचारकों के भेद से जिनेन्द्र देव ने हजारों प्रकार के पात्र बताये हैं।

उवसमणिरीह झाणज्झयणाइ महागुणा जहा दिट्ठा।
जेसिं ते मुणिणाहा उत्तमपत्ता तहा भणिया ॥१२१॥

अन्वयार्थ--(जेसिं) जिन मुनियों में (उवसम) प्रशम (णिरीह) निरीहता-निस्पृहता (झाणज्झयणाइ) ध्यान अध्ययन आदि (महागुणा) महान् गुण (जहा) जैसे [कहे गये हैं] (तहा) वैसे (दिट्ठा) दिखाई देते हैं (ते) वे (मुणिणाहा) मुनिनाथ (उत्तमपत्ता) उत्तमपात्र (भणिया) कहे गये हैं।

अर्थ--जिन मुनियों में प्रशम, निस्पृहता ध्यान-अध्ययन आदि विशेष महान गुण जैसे कहे गये हैं वैसे दिखाई देते हैं वे मुनिराज उत्तम पात्र कहे गये हैं।

दंसण सुद्धो धम्मज्झाणरदो संगवज्जिदो णिसल्लो।
पत्तविसेसो भणियो ते गुणहीणो दु विवरीदो ॥१२२॥

अन्वयार्थ--(दंसणसुद्धो) सम्यग्दर्शन से शुद्ध (धम्मज्झाणरदो) धर्मध्यान में रत (संगवज्जिदो) परिग्रह रहित (णिसल्लो) निःशल्य (पत्त-विसेसो) पात्र विशेष (भणियो) कहे गये है (गुणहीणो) गुणों से हीन हैं (ते) वे (दु) तो (विवरीदो) विपरीत [अपात्र हैं]।

अर्थ--जिस मुनि का सम्यग्दर्शन अत्यन्त शुद्ध है, जो धर्मध्यान में सदा लीन रहता है, जो बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह से रहित है, तथा माया, मिथ्यात्व और

निदान तीन शल्यों से रहित हैं वे मुनि विशेष-पात्र कहे गये है। जिस मुनि में ये ऊपर कथित गुण नही हैं वह उससे विपरीत अर्थात् अपात्र है।

सम्माइगुणविसेसं पत्तविसेसं जिणेहिं णिद्दिट्ठं।
तं जाणिऊण देइसु दाणं जो सोनु मोक्खरओ ॥१२३॥

अन्वयार्थ--जिसमें (सम्माइगुणविसेसं) सम्यक्त्वादि विशेष गुण हैं [वह] (जिणेहिं) जिनेन्द्र देव के द्वारा (पत्तविसेसं) पात्र विशेष (णिद्दिट्ठं) कहा गया है (जो) जो (तं) उसको (जाणिऊण) जानकर (दाणं) दान (देइसु) दिया जाता है [देता है] (सोउ) वह भी (मोक्खरओ) मोक्ष में रत होता है।

अर्थ--जो सम्यक्त्व आदि (उपशम, निरीहता, ध्यान, अध्ययन आदि) विशेष गुणों से युक्त है वे जिनेन्द्र देव के द्वारा विशेष पात्र कहे गये है। जो उसको जानकर दान देता है वह भी मोक्षरत है (मोक्षमार्ग रत है)।

णवि जाणइ जिणसिद्धसरूवं तिविहेण तह णियप्पाणं।
जो तिव्वं कुणइ तवं सो हिंडइ दीहसंसारे ॥१२४॥

अन्वयार्थ--(जो) जो व्यक्ति (जिण) जिनको (सिद्ध-सरुवं) सिद्ध स्वरुप को (तह) तथा (णियप्पाणं) निजात्मा को (तिवेहेण) तीन प्रकार से (ण वि) नहीं ही (जाणइ) जानता है (सो) वह (तिव्वं) घोर (तवं) तप करता हुआ भी (दीहसंसारे) दीर्घ संसार में (हिंडइ) भ्रमण करता है।

अर्थ--जो मुनि न तो भगवान अरहंत देव का स्वरुप जानता है, न भगवान सिद्ध परमेष्ठी का स्वरुप जानता है और न वहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के भेद मे अपने आत्मा का स्वरुप जानता है, वह मुनि यदि घोर तपश्चरण भी करे तो भी वह इस जन्म-मरण रूप महासंसार में दीर्घकाल तक परिभ्रमण करता है।

णिच्छयववहारसरूवं जो रयणत्तयं ण जाणइ सो।
जं कीरइ तं मिच्छारूवं सव्वं जिणुद्दिट्ठं ॥१२५॥

अन्वयार्थ—(जो) जो (णिच्छयववहार) निश्चय-व्यवहार (सरूवं) स्वरुप (रयणत्तयं) रत्नत्रय को (ण) नहीं (जाणइ) जानता [है] (सो) वह (जं) जो [कुछ] (कीरइ) करता है (तं) वह (सव्वं) सब (मिच्छारूवं) मिथ्यारुप [है] [ऐसा] (जिणुद्दिट्ठं) जिन [देव] ने कहा [है]

अर्थ—जो मुनि न तो निश्चय रत्नत्रय के स्वरूप को जानता है और न व्यवहार रत्नत्रय के स्वरूप को जानता है। अतः वह जो कुछ करता हैं वह सब मिथ्या है, विपरीत है ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

किं जाणिऊण सयलं तच्चं किच्चा तवं च किं वहुलं।
सम्मविसोहीविहीणं णाणतवं जाग भववीयं ॥१२६॥

अन्वयार्थ—(सयलं) सकल [सम्पूर्ण] (तच्चं) तत्व को (जाणिऊण) जानकर भी (किं) क्या? (च) और (बहुलं) विपुल (तवं) तप (किच्चा) करके भी (किं) क्या? (सम्मविसोही) सम्यक्त्व की विशुद्धि (विहीण) रहित (णाण) ज्ञान (तवं) तप को (भववीयं) भववीज (जाण) जानो।

अर्थ—शुद्ध सम्यग्दर्शन के विना समस्त तत्वों को जान लेने से भी क्या लाभ? तथा विना शुद्ध सम्यग्दर्शन के घोर तपश्चरण करने से भी क्या लाभ है। शुद्ध सम्यग्दर्शन के विना ज्ञान और तप दोनों ही संसार के कारण जानो।

वयगुणसीलपरीसहजयं च चरियं च तवं षडावसयं।
झाणज्झयणं सव्वं सम्मविणा जाण भववीयं ॥१२७॥

अन्वयार्थ—(वय) व्रत (गुण) गुण (सील) शील (परीसहजय) परीषहजय (चरियं) चारित्र (तवं) तप (च) और (छडावसयं) छह आवश्यक [क्रियायें] (झाणज्झयणं) ध्यान-अध्ययन (सव्वं) सब (सम्म) सम्यक्त्व के (विणा) विना (भववीयं) भव का बीज (जाण) जानो।

अर्थ—सम्यग्दर्शन के बिना व्रत पालन करना, गुप्ति, समिति पालन

करना, शील पालन करना, परीषहों का जीतना, चारित्र का पालन करना, तपश्चरण करना। छहो आवश्यकों [समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग] का पालन करना, ध्यान करना और अध्ययन करना आदि सब संसार के कारण ही जानो।

खाई पूयालाहं सक्काराइं किमिच्छसे जोई।
इच्छसि जइ परलोयं तेहिं किं तुज्भ परलोयं ॥१२८॥

अन्वयार्थ-(जोई) हे योगी! (जइ) यदि (परलोयं) परलोक को (इच्छसि) चाहते हो तो (खाई) ख्याति (पूया) पूजा (लाहं) लाभ (सक्काराइं) सत्कारादि को (किमिच्छसे) क्यों चाहते हो? (किं) क्या (तेहिं) उनसे (तुज्भ) तुझे (परलोयं) परलोक।

अर्थ—हे मुनिराज! यदि तुम परलोक को सुधारने की इच्छा करते हो तो फिर अपनी ख्याति, पूजा, लाभ, सत्कारादि की इच्छा क्यों करते हो? इससे तुम्हारा परलोक सुधरने वाला नही है।

कम्मादविहावसहावगुणं जो भाविऊण भावेण।
णियसुद्धप्पा रुच्चइ तस्स य णियमेण होइ णिव्वाणं ॥१२९॥

(जो) जो [जिस मुनि को] (कम्माद) कर्म से जनित (विहाव) विभाव और (सहावंगुण) स्वभाव गुण (भावेण) भाव पूर्वक (भाविऊण) मननकर (य) और (णिय) निज (सुद्धप्पा) शुद्धात्मा (रुच्चइ) रुचता है (अस्स) उसके (णियमेण) नियम से (णिव्वाणं) निर्वाण (होइ) होता है।

अर्थ-जो मुनिराज कर्मोदय से होने वाले आत्मा के वैभाविक गुणों का [राग-द्वेष-मोह मद मत्सर कषाय आदि भावों का] चिन्तन करता हैं तथा उन कर्मो के नाश से प्रकट होने वाले उत्तम क्षमा मार्दव आर्जवादि आत्मा के स्वाभाविक गुणों का चिंतन करता है तथा इन दोनों के यथार्थ स्वरूप को जानने पर जो अपने शुद्धात्मा मे श्रद्धा रुचि रखता है उसको नियम से निर्वाण होता है।

मूलुत्तरुत्तरदव्वादो भावकम्मदो मुक्को।
आसवबंधणसंवरणिज्जर जाणेइ किं वहुणा ॥१३०॥

अन्वयार्थ--(मूलुत्तरुत्तर्दव्वादो) कर्मों की मूल और उत्तर प्रकृतियों तथा उत्तरोत्तर द्रव्य कर्म से (भावकम्मदो) भाव कर्म से (मुक्को) मुक्त [जीव] (आसव) आस्रव (बंधण) बन्ध (संवर) संवर (णिज्जर) निर्जरा (जाणेइ) जानता है (किं बहुणा) अधिक क्या (कहना ?)

अर्थ–ज्ञानावरणादिक कर्म द्रव्य कर्म कहलाते है, उनकी मूल प्रकृतियां ज्ञानावरणादिक और उत्तर प्रकृतियां मतिज्ञानावरणादि है। अवग्रह, इहा, अवाय, धारणा वा स्मरण चिंता आदि को आवरण करने वाले कर्मों को उत्तरोत्तर प्रकृतियां कहते हैं। जो मुनि मूलप्रकृति, उत्तर प्रकृति तथा उत्तरोत्तर प्रकृतिरूप द्रव्यकर्मों से सर्वथा रहित है, और राग-द्वेष आदि भाव कर्मों से भी सर्वथा रहित है वे ही आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा तत्व को जानते है।

विसयविरत्तो मुंचई विसयासत्तो ण मुंचए जोई।
वहिरंतरपरमप्पाभेयं जाणेह किं वहुणा ॥१३१॥

अन्वयार्थ-(विषयविरत्तो) विषयों से विरक्त (जोई) योगी [विषयों को] (मुंचई) छोड़ता है (विसयासत्तो) विषयासक्त (ण) नहीं (मुंचइ) छोड़ता है [इसलिये] (वहिरंतर) वहिरात्मा अन्तरात्मा [और] (परम्पा) परमात्मा के (भेयं) भेद को (जाणेह) जाणो (बहुणा) वहुत (कहने से) (किं) क्या ?

अर्थ—विषयों से विरक्त योगी विषयों को छोड़ देता है किन्तु विषयासक्त नही छोड़ता है इसलिये वहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के भेदों को जानकर विषयों से विरक्त होना चाहिये। अधिक कहने से क्या ?

णिय अप्पणाणझाणज्झयण सुहमियरसायणप्पाणं।
मोत्तूणक्खाणसुहं जो भुंजइ सो हु वहिरप्पा ॥१३२॥

अन्वयार्थ-(णिय) निज (अप्प) आत्मा के लिए (णाण) ज्ञान (झाणज्झयण) ध्यान-अध्ययन (सुहामिय) शुभ अमृत (रसायणप्पाणं) रसायन पान को (मोत्तूण) छोड़कर (जो) जो (अक्खाणसुहं) इन्द्रिय सुख को (भुंजई) भोगता है (सो) वह (हु) निश्चय ही (वहिरप्पा) वहिरात्मा है.।

अर्थ—जो स्वात्मा के लिए ज्ञान, ध्यान-अध्ययन रूप शुभ-अमृत रसायन पान को छोड़कर इन्द्रिय सुख को भोगता है वह निश्चय ही वहिरात्मा है।

किंपायफलं पक्कं विसमिस्सिदमोदमिव चारुसुह ।
जिब्भसुहं दिट्ठिपियं जह तह जाणक्खसोक्खं वि ॥१३३॥

अन्वयार्थ—(जह) जैसे (पक्कं) पका हुआ (किंपायफलं) किम्पाक फल (विसमिस्सिद) विष मिश्रित (मोदमिव) मोदक के समान (चारुसुह) सुन्दर शुभ [तथा] (जिब्भसुहं) जीभ को सुखकर (दिट्ठिपियं) दृष्टि प्रिय होता है (तह) वैसे (अक्खसोक्खं) इन्द्रिय सुख (वि) भी (जाण) जानो।

अर्थ—किंपाक फल एक विषफल होता है जो देखने में अति सुन्दर, खाने में मधुर स्वादिष्ट होता है परन्तु उसके खाते ही मनुष्य मर जाता है। जिस प्रकार किंपाक फल खाने में स्वादिष्ट, देखने में प्रिय और सुन्दर होता है उसी प्रकार इन्द्रियो के मुख क्षणिक सुखद, पश्चात् किंपाक फल के समान दुखद होते है। अथवा—

विषमिश्रित लड्डू जिस प्रकार देखने में सुन्दर, खाने में मीठे स्वादिष्ट होते हैं उसी प्रकार ये इन्द्रिया विषय हैं। जैसे विषमिश्रित लड्डूओ को खाने से मनुष्य मर जाता है वैसे ही इन्द्रिय सुखों का फल नरक-निगोद आदि नीच योनियों में अनेक बार मरना है।

देहकलत्तं पुत्तं मित्ताइ विहावचेदणा रूवं ।
अप्पसरूवं भावइ सो चेव हवेइ बहिरप्पा ॥१३४॥

अन्वयार्थ–[जो] (देह) शरीर (कलत्तं) पत्नी (पुत्तं) पुत्र (मित्ताइ) मित्र आदि (विहावचेदणा) विभाव चेतना (रूवं) रूप को (अप्पसरूवं) आत्म स्वरूप (भावइ) भाता है (सो) वह (चेव) ही (बहिरप्पा) बहिरात्मा (हवेइ) होता है।

अर्थ—जो इस शरीर को आत्म स्वरूप मानता है पत्नी, पुत्र, मित्र आदि [शरीर से भिन्न को] को आत्म स्वरूप मानता है तथा राग-द्वेष-मोहादि वैभाविक परिणामों को आत्म स्वरूप भाता है, वह ही बहिरात्मा होता है।

इंदियविसयसुहाइसु मूढमई रमइ ण लहइ तच्चं ।
बहुदुक्खमिदि ण चिंतइ सो चेव हवेइ बहिरप्पा ॥१३५॥

अन्वयार्थ—(मूढ़मई) अज्ञानी जीव (इंदियविसय) इन्द्रिय के विषय (सुहादिसु) सुखादि में (रमइ) रम जाता है (बहुदुक्खं) ये इन्द्रिय विषय बहुत दुखदायी हैं (इदि) यह (ण) (चिंतइ) विचार नहीं करता है वह (तच्चं) तत्व को (ण) नहीं (लहइ) प्राप्त होता है (सोचेव) वह ही (वहिरप्पा) वहिरात्मा (हवेइ) होता है।

अर्थ- जो अज्ञानी जीव इन्द्रिय के विषय सुख आदि में लीन रहता है। ये इन्द्रिय विषय बहुत दुखदायी है इस बात का विचार नहीं करता है। वह आत्म तत्व का स्वरूप वा जीवादिक सप्त तत्वों का स्वरूप नही जान सकता है। वह निश्चित ही वहिरात्मा है।

जं जं अक्खाणसुहं तं तं तिव्व करेइ बहुदुक्खं।
अप्पाणमिदि ण चिंतइ सो चेव हवेइ बहिरप्पा ॥१३६॥

अन्वयार्थ—(जंजं) जितने (अक्खाणसुहं) इन्द्रिय सुख है (तं तं) वे सब (अप्पाणं) आत्मा (तिव्वं) तीव्र (बहुदुक्खं) अनेक प्रकार के दुख (करेइ) देते हैं (इदि) इस प्रकार जो (ण) नहीं (चिंतइ) विचार करना (सो चेव) वही (वहिरप्पा) वहिरात्मा (हवेइ) होता है।

अर्थ—इन्द्रिय जन्य जितने सुख है वे सब इस आत्मा को अनेक प्रकार के दुःख देते हैं। इस प्रकार जो विचार नहीं करता है वह वहिरात्मा होता है।

जेसिं अमेज्झमज्झे अप्पण्णाणं हवेइ तत्थेव रूई।
तह बहिरप्पाणं बाहिरिंदियविसएसु होइ मई ॥१३७॥

अन्वयार्थ—(जेसिं) जैसे (अमेज्झ) विष्टा के (मज्झे) मध्य में (उप्पण्णाणं) उत्पन्न [कीड़े की] (रुई) रुचि (तत्थ) उसी विष्टा में (हवेइ) होती है (तह) उसी प्रकार (बहिरप्पाणं) वहिरात्मा की (मई) बुद्धि (बहिरिंदय) बाह्य-इन्द्रिय (विसएसु) विषयों में (होइ) होती है।

अर्थ—जैसे कोई जीव विष्ठा के मध्य में कीड़ा उत्पन्न होता है तो वह उसी स्थान और उसी योनि में प्रेम करने लग जाता है उसी प्रकार जो जीव वहिरात्मा है उन्हे वाह्य-इन्द्रिय विषयों में ही प्रेम हो जाता है।

सिविणे वि ण भुंजई विसयाइं देहाइ भिण्णभावमई।
भुंजइ णियप्परुवो सिवसुहरत्तो दु मज्झिमप्पो सो ॥१३८॥

अन्वयार्थ—(देहादिभिण्णभावमई) जो आत्मा को शरीररादि से भिन्न मानने वाला है (सिविणे) स्वप्न में (वि) भी (विसयाई) विषयादि को (ण) नहीं (भुंजइ) भोगता है (णियप्परुवो) आत्मा के निज स्वरूप को (भुञ्जंइ) अनुभव करता है (दु) और (सिवसुहरत्तो) शिव-सुख में लीन रहता है (सो) वह (मज्झिमप्पो) मध्यमात्मा अन्तरात्मा है।

अर्थ—जो आत्मा को शरीरादि से सर्वथा भिन्न मानता है तथा विषयों का भोग कभी स्वप्न में भी नहीं करता है जो सदा अपने निज स्वरूप का अनुभव करता है और मोक्ष सुख में लीन रहता है उसे मध्यम आत्मा अथवा अन्तरात्मा कहते हैं।

मलमुत्तघडव्व चिरवासिय दुव्वासणं ण मुंचेई।
पक्खालियसम्मत्तजलो यण्णाणम्मएण पुण्णो वि ॥१३९॥

अन्वयार्थ–यह जीव (पक्खालिय-सम्मत्तजलो) सम्यक्त्व रूपी जल से धोने पर (य) और (णाणम्मएण) ज्ञानामृत से (पुण्णोवि) पूर्ण होने पर भी (चिरवासिय) चिरकाल से दुर्वासित (मलमुत्तघडव्व) मल-मूत्र से भरे हुए घड़े के समान (दुव्वासणं) दुर्वासना को (ण) नहीं (मुंचेई) छोड़ता है।

अर्थ—जैसे किसी घड़े में बहुत समय तक मल-मूत्र भरा रहा है उसको बहुत से पानी से भी धोया जाए, उसके मुंह तक अमृत भी भर दिया जाय तो भी वह घड़ा अपनी चिरकाल की दुर्गन्ध को छोड़ नही सकता वैसे ही यह जीव अनादिकाल से इन्द्रिय जन्य विषयों का सेवन करता चला आ रहा है। यदि काललब्धि पाकर यह सम्यक्त्व प्राप्त भी कर ले तो भी उसके बल से यद्यपि वह इन्द्रियजन्य विषयों का त्याग करना चाहता है या त्याग कर देता है तथा अपने आत्मजन्य सुखामृत से भरपूर हो जाता है तथापि अनादिकाल से लगी हुई वह विषयों की वासना लगी ही रहती है।

सम्माइट्ठी णाणी अक्खाणसुहं कहंपि अणुहवइ ।
केणावि ण परिहारण बाहिविणासट्ठ भेसज्ज ॥१४०॥

अन्वयार्थ—(सम्माइट्ठो) सम्यग्दृष्टि (णाणी) ज्ञानी (कहं पि) किसी प्रकार अनिच्छापूर्वक (अक्खाणसुहं) इन्द्रिय सुख का (अणुहवइ) (बाहिविणासट्ठ) व्याधि को दूर करने के लिए (भेसज्ज) औषधि (केणावि) किसी के भी द्वारा (परिहारण ण) छोड़ी नहीं जाती है ।

अर्थ— सम्यग्दृष्ठि ज्ञानी किसी प्रकार अनिच्छापूर्वक इन्द्रिय सुख का अनुभव करता है । जैसे रोग दूर करने के लिए औषधि किसी के द्वारा छोड़ी नहीं जाती है। [इच्छा न होने पर भी रोग को दूर करने के लिए औषधि लेनी पड़ती है]

किं बहुणा हो तीज बहिरप्पसरुवणि सयलभावणि ।
भजि मज्झिमपरमप्पा वत्थुसरुवाणि भावाणि ॥१४१॥

अन्वयार्थ— (हो) हे भव्यात्मा ! (किं बहुणा) अधिक कहने से क्या लाभ ? (बहिरप्पसरुवाणी) बहिरात्मस्वरूप (सयलभावाणि) समस्त भावों को (तजि) छोड़ (मज्झिमपरमप्पा) मध्यम आत्मा और परमात्मा के (वत्थुसरुवाणी) यथार्थ स्वरूप सम्बन्धी वस्तु स्वरूप (भावाणि) भावों को (भजि) भज ।

अर्थ—हे भव्यात्मा ! अधिक कहने से क्या लाभ हैं ? [संक्षेप में इतना समझ लेना चाहिये कि] वहिरात्मा स्वरूप समस्त भागों को छोड़ और अन्तरात्मा तथा परमात्मा के यथार्थ वस्तु स्वरूप सम्बन्धी भावों को भज ।

चउगइसंसारगमणकारणभूयाणि दुक्खहेऊणी ।
ताणि हवे बहिरप्पा वत्थुसरूवाणि भावाणि ॥१४२॥

अन्वयार्थ—(बहिरप्पा) बहिरात्मा के (वत्थुसरुवाणि) वस्तुस्वरूप सम्बन्धी [जो] (भावाणि) भाव है (ताणि) वे सब (चउगइ) चतुर्गति रूप (संसार) संसार (गमनकारणभूयाणि) परिभ्रमण के कारण हैं और (दुक्खहेऊणि) दुःख के कारण (हवे) होते हैं ।

अर्थ—वहिरात्मा जीवों के वस्तुस्वरूप सम्बन्धी जो भाव होते हैं वे सब चारों गतियों मे परिभ्रमण के कारण होते हैं तथा दु.ख के कारण होते हैं [जीवों को अनेक प्रकार के शारीरिक-मानसिक दु:ख देने वाले होते हैं।

मोक्खगईगमणकारणभूयाणि पसत्थपुण्णहेऊणि ।
ताणि हवे दुविहप्पा वत्थुसरुवाणि भावाणि ॥१४३॥

अन्वयार्थ—(दुविहप्पा) दो प्रकार की आत्मा [अन्तरात्मा और परमात्मा] के (वत्थुसरुवाणि) वस्तुस्वरूप सम्वन्धी जो (भावाणि) भाव है (ताणि) वे सव (मोक्खगइ) मोक्ष गति में (गमनकारणभूयाणि) गमन में कारणभूत (पसत्थपुण्णहेऊणि) प्रशस्त पुण्य के कारण (हवे) होते हैं।

अर्थ—अन्तरात्मा और परमात्मा के जो वस्तु स्वरूप सम्वन्धी भाव होते हैं वे सब मुक्ति/मोक्ष गति में ले जाने वाले और प्रशस्त पुण्य के कारण होते हैं।

दव्वगुणपज्जएहिं जाणइ परसमयससमयादिविभेयं ।
अप्पाणं जाणइ सो सिवगइपहणायगो होई ॥१४४॥

अन्वयार्थ -[जो] (परसमय) परसमय (ससमयादिविभयं) स्वसमय आदि के भेद को (दव्वगुणपज्जएहिं) द्रव्य-गुण-पर्याय से (जाणइ) जानता है (सो) वह (अप्पाणं) अपनी आत्मा को (जाणइ) जानता है (सिवगइ) मोक्ष गति का (पहणायगो) पथनायक (होइ) होता है।

अर्थ जो स्वसमय और पर समय आदि के भेद को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानता है। वह अपनी आत्मा को जानता है। वह शिव गति का पथ नायक होता है।

[आत्मा के दो भेद है–१. स्वसमय २. परसमय।

जो अपने स्वभाव में स्थिर रहता है उसको स्वसमय कहते हैं। जो अपने शुद्ध स्वभाव स्थिर नही रहता उसको परसमय कहते हैं]

वहिरंतरप्पभेयं परसमयं भण्णए जिणिदेहिं ।
परमप्पा सगसमयं तब्भेयं जाण गुणट्ठाणे ॥१४५॥

अन्वयार्थ—(जिणिदेहिं) जिनेन्द्र भगवान ने (वहिरंतरप्पभेयं) वहिरात्मा और अन्तरात्मा इन भेदों को (परसमग्रं) परसमय [और] (परमप्पा) परमात्मा (सगसमयं) स्वसमय (भण्णए) कहा है (तन्भेयं) उनके भेद गुणठाणे गुण स्थानों की अपेक्षा (जाण) जानो।

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान ने वहिरात्मा और अन्तरात्मा को परसमय तथा परमात्मा को स्वसमय कहा है। उनके भेद गुण स्थानों की अपेक्षा से जानो।

मिस्सोत्ति वाहिरप्पा तरतमया तुरिय अंतरप्प जहण्णा।
संत्तोत्तिमज्झिमंतर खीणुत्तर परमजिणसिद्धा ॥१४६॥

अन्वयार्थ—(मिस्सो) प्रथम, द्वितीय और तृतीय-मिश्र गुण स्थान वाले (त्ति) ये (वाहिरप्पा) वहिरात्मा है (तरतमया) तरतमता से (तुरियं) चतुर्थ गुणस्थानवर्ती (जहण्णो) जघन्य (अंतरप्प) अन्तरात्मा है (संत्तोति) पाँचवें से उपशांत मोह [ग्याहरवें गुणस्थान] तक (मज्झिमंतर) मध्यम अन्तरात्मा (खीणुत्तर) क्षीणमोह [वारहवे गुणस्थान वाले] उत्तम अन्तरात्मा है। (परमजिणसिद्धा) जिन [तेरहवे गुणस्थानवर्ती] और चौदहवें गुणस्थावर्ती तथा सिद्ध परमात्मा है।

अर्थ—प्रथम, द्वितीय और तृतीय गुणस्थान वाले जीव वहिरात्मा है। क्रमश विशुद्धि की तरतमता से चतुर्थगुणस्थानवर्ती जघन्य अन्तरात्मा हैं। पांचवें से उपशांत मोह (ग्याहरवें गुणस्थानवर्ती) तक मध्यम अन्तरात्मा है। क्षीणमोह (वारहवें गुणस्थानवर्ती) उत्तम अन्तरात्मा है। तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानवर्ती जिन और सिद्ध परमात्मा हैं।

मूढत्तय सल्लत्तयदो सत्तयदंड गारवत्तयेहिं।
परिमुक्को जोई सो सिवगइपहणायगो होइ ॥१४७॥

अन्वयार्थ—[जो] (जोई) योगी (मूढत्तय) तीन मूढ़ता (सल्लत्तय) तीन शल्य (दोसत्तय) तीन दोष (दंडगारवत्तयेहिं) तीन दंड और तीन गारव से (परिमुक्को) पूर्ण रहित होता है (सो) वह (सिवगइ) शिवगति का (पहणाएगो) पथनायक [मोक्ष मार्ग का नेता] (होई) होता है।

जो योगी तीन मूढ़ता, तीन शल्य, तीन दोष, तीन दंड और तीन गारवों से रहित हैं वही मुनि मोक्ष पथ का स्वामी [मोक्ष मार्ग का नेता] होता है।

तीन मूढ़ता-(१) देव मूढ़ता (२) गुरु मूढता (३) लोक मूढ़ता ।

तीन शल्य--(१) माया (२) मिथ्यात्व (३) निदान

तीन दोष—(१) राग (२) द्वेष (३) मोह

तीन दंड—(१) मन (२) वचन (३) काय ।

तीन गारव-(१) रस गारव (२) ऋद्धि गारव (३) सात गारव

रयणत्तयकरणत्तयजोगत्तयगुत्तित्तय विसुद्धेहिं ।
संजुत्तो जोई सो सिवगइपहणायगो होई ॥१४८॥

अन्वयार्थ—[जो] (जोई) योगी (रयणत्तय) तीन रत्न (करणत्तय) तीन करण (जोगत्तय) योग तीन [और] (गुत्तित्तय) तीन गुप्ति की (विसुद्धेहिं) विशुद्धि से (संजुत्तो) संयुक्त [होता है] वह (सिवगइ) शिवगति का (पहणायगो) पथनायक (होइ) होता है।

अर्थ --जो योगी रत्नत्रय से सुशोभित है, अधः करण, और अनिवृत्तिकरण इन तीनों से सुशोभित हैं, मन, वचन, काय तीन योगों से शुद्ध है और शुद्ध रीति से तीन गुप्तियों का पालन करता है वह मुनि मुक्ति मार्ग का नेता होता है।

वहिरब्भंतरगंथविमुक्को सुद्धोवजोयसंजुत्तो ।
मूलुत्तरगुणपुण्णो सिवगइपहणायगो होई ॥१४९॥

अन्वयार्थ— (बहिरब्भंतर) बाहरी और भीतरी (गंथ) परिग्रह से (विमुक्को) विमुक्त [तथा] (सुद्धोवजोय) शुद्धोपयोग से (संजुत्तो) संयुक्त [और] (मूलुत्तरगुणपुण्णो) मूलगुण और उत्तरगुण से पूर्व युक्त (सिवगइ) शिवगति का (पहणायगो) पथ नायक [मोक्ष मार्ग का नेता] (होई) होता है।

अर्थ—जो बाह्य अभ्यन्तर परिग्रह से पूर्ण निमुक्त हैं तथा शुद्धोपयोग से संयुक्त है एवं मूलोत्तर गुणों से पूर्ण युक्त है वह मुक्ति मार्ग का नायक होता है।

मूलगुण २८, ५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रिय निरोध, ६ आवश्यक, ७ आवश्यक शेष गुण ।

उत्तर गुण—८४ लाख उत्तर गुण है ।

जं जाइजरामरणं दुहदुट्ठविसाहिविसविणासयरं ।
सिवसुहलाहं सम्मं संभावइ सुणइ साहए साहू ॥१५०॥

अन्वयार्थ—(साहू) हे साधु ! (सुणइ) सुनो (संभावइ) भावना करो (जं) जो (सम्मं) सम्यग्दर्शन (जाइजरामरणं) जन्म, मरण और बुढ़ापा (दुह) दुःख रूपी (दुट्ठ) दुष्ट (विसाहिविसविणासयरं) विषधर सर्प के विष का विनाशक है [उसकी तथा उस सम्यक्त्व की] (साधए) साधना करो [जो] (सिवसुहलाहं) शिवसुख का लाभ कराने वाला है ।

अर्थ—[मोक्ष को सिद्ध करने वाले] हे साधु ! सुनो जो सम्यग्दर्शन जन्म-जरा मरण दुःख रूपी दुष्ट विषधर का विनाशक है, शिवसुख का लाभ कराने वाला हैं उसकी भावना करो, साधना करो ।

किं बहुणा हो देविंदाहिंद णरिंदगणहरिंदेहि ।
पुज्जा परमप्पा जे तं जाणं पहाव सम्मगुणं ॥१५१॥

अन्वयार्थ—(हो) अहो ! (बहुणा) बहुत [कहने से] (किं) क्या (जे) जो (परमप्पा) परमात्मा (देविंदाहिंद) देवेन्द्र, नागेन्द्र (णरिंद) नरेन्द्र (गणहरिंदेहि) गणधरों से (पुज्जा) पूज्य है (तं) उसे (सम्मगुणं) सम्यक्त्व गुण का (पहाव) प्रभाव (जाण) जानो ।

अर्थ—अरे ! बहुत कहने से क्या लाभ है भगवान अरहंत परमात्मा और सिद्ध परमात्मा जो देवेन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र और गणधरों से पूज्य है उसे सम्यक्त्व गुण का प्रभाव जानों ।

उवसमईसम्मत्तं मिच्छत्तवलेण पेल्लए तस्स ।
परिवट्टंति कसाया अवसप्पिणिकालदोसेण ॥१५२॥

अन्वयार्थ– (अवसप्पिणी) अवसर्पिणी (कालदोसेण) काल के दोष से (मिच्छत्तवलेण) मिथ्यात्व के वल [उदय] से (तस्स) उसके द्वारा (पेल्लए) प्रेरित होने पर इस जीव के (सम्मत्तं) सम्यक्त्व (उवसमई) उपशम [समाप्त] हो जाता है और (कसाया) कषाय (परिवट्टंति) प्रवर्तित हो जाती है।

अर्थ—वर्तमान में अवसर्पिणी काल के दोष से मिथ्यात्व कर्म के उदय से प्रेरित हुए इस जीव के सम्यक्त्व का उपशमन हो जाता है और पुनः कषाय उत्पन्न हो जाती है।

गुण-वय-तव-सम-पडिमा दाणं जलगालणं अणत्थमियं।
दंसण-णाण चरित्तं किरिया तेवण्ण सावया भणिया ॥१५३॥

अन्वयार्थ –(गुण) मूलगुण (वय) वारह व्रत (तव) तप (सम) समता (पडिया) प्रतिमा (दाणं) दान (जलगालणं) पानी छानना (अणत्थंमियं) अनस्तमित [सूर्यास्त के वाद भोजन नहीं करना] और (दंसण) सम्यग्दर्शन (णाण) सम्यग्ज्ञान और (चरित्तं) सम्यक् चारित्र (सावया) श्रावक की (तेवण्ण) त्रेपन (किरिया) क्रियाएं (भणिया) कही गई हैं।

अर्थ – ८ मूलगुण, १२ अणुगुण शिक्षाव्रत, १२ तप, समता, ११ प्रतिमा पालन, ४ प्रकार का दान, पानी छानकर पीना, सूर्यास्त के वाद भोजन नही करना तथा सम्यग्दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र को धारण करना ये सव मिलाकर ५३ क्रियाएं निरूपण की है इन क्रियाओं युक्त श्रावक गिना जाता है।

८ मूलगुण—वड़, पीपल, पाकर, उमर, कठूगर, मद्य, मांस, मधु, ५ उदम्वर ३ मकार = ८ का त्याग करना मूलगुण श्रावक का है।

१२ व्रत—५ अणुव्रत–(१) अहिंसाणुव्रत (२) सत्याणुव्रत (३) अचौर्याणुव्रत (४) ब्रह्मचर्याणुव्रत (५) परिग्रहपरिमाणाणुव्रत।

३ गुणव्रत—(१) दिग्व्रत (२) देशव्रत (३) अनादिडवत।

४ शिक्षाव्रत –(१) सामायिक (२) प्रोषधोपवास (३) भोगोपभोगपरिमाण (४) अतिथिसंविभाग = ५ + ३ + ४ = १२ व्रत।

१२ तप—(१) अनशन (२) ऊनोदर (३) वृत्तिपरिसंख्यान (४) रस परित्याग (५) विविक्तशय्यासन (६) कायक्लेप ६ बहिरंग तप और (७) प्रायश्चित (८) विनय (९) वैश्यावृत्ति (१०) स्वाध्याय (११) व्युतसर्ग (१२) ध्यान = ६ अन्तरंग तप = ६ + ६ १२ तप।

११ प्रतिमा—(१) दर्शन प्रतिमा (२) व्रत (३) सामायिक (४) प्रोषध (५) (६) रात्रि भुक्ति त्याग (७) ब्रह्मचर्य (८) आरंभ त्याग (९) परिग्रह त्याग (१०) अनुमति त्याग (११) उद्दिष्ट त्याग।

४ प्रकार का दान—(१) आहार दान (२) औषध दान (३) शास्त्र दान (४) अभय दान।

८ + १२ + १२ + ११ + ४ + १ + १ + १ + १ + १ + १ = श्रावक की ५३ क्रियाएं।

भुत्तो अयोगुलोसइयो तत्तो अग्गिसिखोवमो यज्जे।
भुंजइ जे दुस्सीला रत्तपिंडं असंजतो ॥१५४॥

अन्वयार्थ—[जिस प्रकार] (अग्गिसिखोवमो) अग्नि शिखा के समान (ततो) तप्तायमान (अयोगुलोसइयो) लोहे का गोला (यज्जे) डालने पर [पानी में डालने पर] (भुत्तो) भक्षण करता चारों ओर से पानी को खींचता है [उसी प्रकार] (जे) जो (दुस्सीला) शील रहित जीव है वे (पिंडं) भोजन को (रत्त) रात में (भुंजइ) खाते हैं [वे] (असंजतो) असंयमी है।

अर्थ—जिस प्रकार अग्नि शिखा के समान तप्त लोहे का गोला पानी को चारों ओर से खिंचता है उसी प्रकार शील रहित जीव रात में भोजन करते [चारों ओर से खाना ही खाना चाहते है] हैं वे असंयमी हैं।

कुसलस्स तवो णिवुणस्स संजमो समपरस्स वेरग्गो।
सुदभावणेण तत्तिय तम्हा सुदभावणं कुणह ॥१५६॥

अन्वयार्थ—(कुसलस्स) कुशल [व्यक्ति के] (तवो) तप [होता है], (णिकुणस्स) निपुण के (संजमो) संयम और (समपरस्स) समभावी के

(वेरग्ग) वैराग्य [होता है] [किन्तु] (सुदभावणेण) श्रुत की भावना से (तत्तिय) तीनो होते हैं (तम्हा) इसलिये (सुदभावणं) श्रुत भावना (कुणह) करनी चाहिये।

अर्थ—जो आत्मा के स्वरूप जानने में कुशल है उनके तप होता है जो आत्म स्वरूप जानने में निपुण है उनके संयम होता है समभावी के वैराग्य होता है और श्रुतज्ञान के अभ्यास से तपश्चरण, संयम तथा वैराग्य तीनों की प्राप्ति होती है इसलिये श्रुत की भावना [श्रुताभ्यास] करना चाहिये।

णाणेण झाणसिज्झी झाणादो सव्वकम्मणिज्जरणं।
णिज्जरणफलं मोक्खं णाणब्भासं तदो कुज्जा ॥१५५॥

अन्वयार्थ—(णाणेण) ज्ञान से (झाणसिज्झी) ध्यान की सिद्धि होती है (झाणादो) ध्यान से (सव्वकम्मणिज्जरणं) समस्त कर्मों की निर्जरा होती है (णिज्जरणफलं) निर्जरा का फल (मोक्खं) मोक्ष है (तदो) इसलिये (णाणब्भासं) ज्ञानाभ्यास (कुज्जा) करना चाहिये।

अर्थ—[सम्यक्] ज्ञान से ध्यान की सिद्धि होती है, ध्यान से समस्त कर्मों की निर्जरा होती है और निर्जरा का फल मुक्तावस्था है इसलिये [सतत] ज्ञानाभ्यास करना चाहिये।

कालमणंतं जीवो मिच्छत्तसरुवेण पंचसंसारे।
हिंडदि ण लहइ सम्मं संसारब्भमणप्रारंभो ॥१५६॥

अन्वयार्थ—(जीवो) जीव (मिच्छत्तसरुवेण) मिथ्यात्व स्वरूप से (अणंतं) अनन्त (कालं) काल (पंचसंसारे) पञ्च परावर्तन संसार में (हिंडदि) परिभ्रमण करता है (सम्मं) सम्यक्त्व (लहइ) प्राप्त (ण) नहीं करता है [इससे] (संसारब्भमण) संसार का भ्रमण (प्रारंभो) बना रहता है।

अर्थ—अनादि काल से संसार में परिभ्रमण करने वाला यह जीव मिथ्यात्व कर्म के उदय से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पंच परावर्तनमय संसार में भ्रमण करता आया है। इस अनन्तकाल में इस जीव को अब सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई।

सम्मद्दंसणसुद्धं जाव दु लभते हि ताव सुही।
सम्मद्दंसणसुद्धं जाव ण लभते हि ताव दुहि ॥१५७॥

अन्वयार्थ—(हि) निश्चय से (जाव) जब [जीव] (सुद्धं) शुद्ध (सम्मद्दंसण) सम्यग्दर्शन (लभते) प्राप्त करता है (दु) तो (ताव) तब (सुही) सुखी होता है और (जाव) जब तक (सुद्धं) शुद्ध (सम्मद्दंसण) सम्यग्दर्शन (ण) नहीं (लभते) प्राप्त होता है (हि) निश्चय से (ताव) तब तक (दुहि) दुःखी रहता है।

अर्थ– इस जीव को जब शुद्ध सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है तब वह सुखी होता है और जब तक शुद्ध सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता हैं निश्चय से तब तक दुखी रहता है।

किं बहुणा वयणेण दु सव्वं दुक्खेव सम्मत्तविणा ।
सम्मत्तेण विसंजुत्तं सव्वं सोक्खेव जाणं खु ॥१५८॥

अन्वयार्थ—(बहुणा) बहुत (वयणेण) वचन कहने से (किं) क्या लाभ (सम्मत्त) सम्यक्त्व के (विणा) विना (दु) तो (सव्वं) सब (दुक्खेव) दुख ही हैं (खु) निश्चय ही (सम्मत्तेण) सम्यक्त्व से संयुक्त (सव्वं) सब (सोक्खेव) सुख ही (जाण) जानो।

अर्थ—वचनों से बहुत कहने से क्या लाभ? सम्यक्त्व के विन तो सब दुःख है, निश्चय से सम्यग्दर्शन से सर्वत्र सुख ही सुख जानो।

णिक्खेवणयपमाणं सद्दालंकारछंद लहि पुण्णं।
नाटयपुराणकम्मं सम्मिवणा दीहसंसारं ॥१५९॥

अन्वयार्थ—(णिक्खेव) निक्षेप (णय) नय (पमाणं) प्रमाण (सद्दालंकार) शब्दालंकार (छंद) छन्द [का ज्ञान] (नाटय) नाटक (पुराण) शास्त्र [ज्ञान] (कम्मं) कर्म का [ज्ञान] (पुण्णं) पूर्ण (लहि) प्राप्त करने [पर भी] (सम्मविणा) सम्यक्त्व के विना (दीह) दीर्घ (संसारं) संसार है।

अर्थ—यदि कोई जीव प्रमाण नय निक्षेप का स्वरूप अच्छी तरह जानता हो तथा अन्य कितने ही कार्यों में निपुण हो तयापि विना सम्यग्दर्शन के उसे दीर्घसंसारी ही समझना चाहिए।

वसहि पडिमोवयरणे गणगच्छे समयसंघजाइकुले।
सिस्सपडिसिस्सछत्ते सुयजाते कप्पड़े पुत्थे ॥१६०॥
पिच्छे संत्थरणे इच्छासु लोहेण कुणइ ममयारं।
यावच्च अट्टरुद्दं ताव ण मुंचेदि ण हु सोक्खं ॥१६१॥

अन्वयार्थ—(वसहि) वसतिका [वस्ती] (पडिमोवगरणे) प्रतिमा उपकरण से (गणगच्छे) गण गच्छ में (समयसंघ) शास्त्र सघ (जाइकुले) जाति कुल में (सिस्सपीडसिस्सछत्ते) शिष्य, प्रतिशिष्य, छात्र में (सुयजाते) सुत प्रपौत्र में (कप्पड़े) कपड़े में (पुत्थे) पोथी पुस्तक में (पिच्छे) पीछी में (संत्थरणे) संस्तर में (इच्छासु) इच्छाओं में (लोहेण) लोभ से (ममयारं) ममकार (कुणइ) करता है (यावच्च) और जब तक (अट्टरुद्दं) आर्तरौद्र ध्यान (ण) नहीं (मुंचेदि) छोड़ता है (तात) तब तक (सोक्खं) सुख (णहु) नही होता है।

अर्थ—यदि साधु वसतिका, प्रतिमा, उपकरण, गण-गच्छ शास्त्र, संघ, जाति कुल, शिष्य, प्रतिशिष्य छात्र आदि पर पदार्थो में लोभ से ममकार करता है। आर्त्त रौद्र ध्यान को नहीं छोड़ता है तब तक मुक्त नही होता और न सुख मिलता है।

रयणत्तयमेव गणं गच्छं गमणस्स मोक्खमग्गस्स।
संघो गुणसंघाओ समओ खलु णिम्मलो अप्पा ॥१६२॥

अन्वयार्थ—(मोक्खमग्गस्स) मोक्ष मार्ग में (गमणस्स) गमन करते हुए साधु का (रयणत्तयमेव) रत्नत्रय ही (गणं) गण है (गच्छं) गच्छ है (गुणसंघादो) गुण समूह से (संघो) संघ है (खलु) निश्चय से (णिम्मलो) निर्मल (अप्पा) आत्मा (समओ) समय है।

अर्थ—मोक्ष मार्ग में गमन करते हुए साधु का रत्नत्रय ही गण और गच्छ तथा गुणों का समूह ही संघ है और निर्मल आत्मा ही समय है।

जिणलिंगधरो जोई विरायसम्मत्तसंजुदो णाणी ॥
परमोवेक्खाइरियो सिवगइपहणायगो होई ॥१६३॥

अन्वयार्थ—(जिणलिंगधारो) जिनमुद्रा धारक जोई) योगी)(विरायसम्मत्त) वैराग्य सम्यक्त्व से (संजुदो) सयुक्त (णाणी) ज्ञानी और (परमोवेक्खाइरियो) परम उपेक्षा धारी, (आइरियो) आचार्य है ऐसा योगी (सिवगइपहणायगो) शिवगति का पथनायक [मोक्ष मार्ग का नेता] (होइ) होता है।

अर्थ—जिस ने जिन मुद्रा को धारण किया है ऐसा योगी, जो परम वैराग्य, सम्यक्त्व से संयुक्त, ज्ञानी और परमोपेक्षा धारक आचार्य है ऐसा योगी शिवगति पथ नायक [मोक्ष मार्ग का नेता] होता है।

सम्मं णाणं वेरग्गतवोभावं णिरीह वित्तिचारित्तं।
गुणसीलसहावं उपज्जइ रयणसार मिणं ॥१६४॥

अन्वयार्थ—(इणं) यह (रयणसारं) रयणसार ग्रन्थ (सम्म) सम्यक्त्व (णाणं) ज्ञान (वेरग्ग) वैराग्य (तवोभावं) तप भाव (णिरीहवित्ति) निस्पृह वृत्ति (चारित्तं) सम्यक् चारित्र (गुण) गुण (सील) शील और (सहावं) स्वभाव को (उप्पज्जइ) उत्पन्न करता है।

अर्थ—जिसमें रत्नत्रय का वर्णन है ऐसा यह रत्नसार ग्रन्थ [रयणसार] सम्यग्दर्शन, ज्ञान की वृद्धि करता है। वैराग्य, तपोभावना, चारित्र और वीतरागता की वृद्धि करता है उत्तम क्षमा आदि गुण, शील और आत्म स्वभाव की वृद्धि करता हैं।

गंथमिणं जो ण दिट्ठइ ण हु मण्णइ ण सुणेइ ण हु पढ़इ।
ण हु चिंतइ ण हु भावइ सो चेव हवेइ कुद्दिट्ठी ॥१६५॥

अन्वयार्थ—(इणं) इस (गंथं) ग्रन्थ को (जो) जो (ण) नहीं (दिट्ठइ) देखता है (णहु) नहीं (मण्णइ) मानता (णहु) नहीं (सुणेइ) सुनता है (ण हु) नहीं (पढइ) पढ़ता है (ण हु) नहीं (चिंतई) चिन्तन करता है (णहु) नहीं (भावइ) भाता है (सो) वह (चेव) ही (कुदिट्ठी) मिथ्यादृष्टि (हवेइ) होता हैं।

अर्थ—जो मनुष्य इस ग्रन्थ को पढ़ते नहीं, सुनते नहीं, देखते-मानते या चिन्तन-मनन नहीं करते है वे मिथ्यादृष्टि होते हैं।

इदि सज्जणपुज्जं रयणसारं गंथं णिरालसो णिच्चं।
जो पढइ सुणइ भावइ पावइ सो सासयं ठाणं ॥१६६॥

अन्वयार्थ—(इदि) इस प्रकार (सज्जपुज्ज) सज्जनों के द्वारा पूज्य (रयणसार गंथं) रयणसार ग्रन्थ को (जो) जो [मनुष्य] (णिरालसो) आलस्य रहित (णिच्चं) नित्य (पढइ) पढ़ता [है] (सुणइ) सुनता है (भावइ) मनन करता हैं (सो) वह [मनुष्य] (सासयं) शाश्वत (ठाणं) स्थान को (पावइ) पाता है।

अर्थ—इस प्रकार सज्जनों के द्वारा पूज्य इस रयणसार ग्रन्थ को जो निरालसी होकर नित्य पढता-सुनता है और ज्ञान की भावना करता हैं वह शाश्वत अविनश्वर मोक्ष स्थान को प्राप्त होता है।